दिल्ली में दस वर्ष

राजेन्द्रलाल हाण्डा

दिल्ली में दस वर्ष

दिल्ली में दस वर्ष

राजेन्द्रलाल हाण्डा

प्र ग ति प्र का श न
नई दिल्ली

तीन रुपये आठ आने

प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४ डी०, फ़ीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली।
नवीन प्रेस, दिल्ली।

पंडित अमरनाथ झा को
जिन्होंने मुझे अंग्रेज़ी निबन्ध साहित्य
की दीक्षा दी।

सूची

भूमिका

विगत दस वर्ष, १६४०–५०, संसार के इतिहास में सदा असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण रहेंगे। इस एक दशाब्दी में विश्व का रंगमंच ही बदल गया। न वह नाटक है, न वे कथानक। एक-एक करके पुराने पात्र परदे के पीछे चले गये हैं। उनके स्थान पर नये पात्र, नया नाटक, नये कथानक और बहुत-से नये दर्शक आ जुटे हैं।

इस चल-चित्र में हमारे देश की राजधानी दिल्ली का भी विशेष स्थान है, केवल इसीलिए नहीं कि युद्ध के दिनों में, मध्यपूर्व और बर्मा की लड़ाइयों का संचालन यहाँ से होता था; बल्कि इसलिए भी कि इसी अवधि में दिल्ली साम्राज्यवादी अंग्रेजों के प्रधान कार्यालय से बदल कर एक महान स्वतंत्र राष्ट्र की राजधानी बन गई। जो कल्पनातीत परिवर्तन संसार में घटे हैं उनकी छाया हमारे देश पर पड़ी, और जो परिवर्तन हमारे देश में हुए उनकी सबसे गहरी छाप दिल्ली पर लगी।

दिल्ली दूसरे साधारण शहरों जैसी नगरी नहीं है। एक साधारण नगर और दिल्ली में वही अन्तर है जो एक मिट्टी के ढेले और एक पुरानी सुराही में है। सुराही भी बनी मिट्टी ही की है, पर उस पर अनेक हाथों के चिह्न अंकित हैं। सुराही कुम्हार की दक्षता का ही प्रमाण नहीं, उसका अपना भी एक जीवन है। उससे न जाने कितने प्यासों ने लाभ उठाया। सम्भवतः मनचले धनवानों ने उसमें सुरा भर कर भी पी है। ऐसा भी हो सकता है कि महीनों यह उपेक्षित पड़ी रही हो, अन्दर पानी की बूंद नहीं और ऊपर काई और धूल की तह जमी हो। ऐसी सुराही और साधारण मिट्टी के ढेले में क्या तुलना ?

ठीक यही अन्तर दिल्ली और दूसरे साधारण नगरों में है।

शताब्दियों से ही नहीं, बल्कि इतिहास के उषा काल से दिल्ली की कुछ विशेषताएं रही हैं। इतिहास का विद्यार्थी जब कभी आँखें बन्द कर अवकाश वेला में भारत के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालता है तो दिल्ली उसे एक विशाल स्तम्भ के समान दिखाई देती है। वह सोचता है, हजारों वर्ष हुए जब आर्य लोग इस देश में आये और उत्तर-पश्चिमी भाग में बस गये थे, जिसे वे सप्तसिंधु कहते थे। कुछ समय बाद वे पूर्व की ओर बढ़े, और जैसे ही यमुना तट पर आर्यों का काफिला पहुँचा, ऋषि अगस्त्य या कौशिक के किसी वंशज ने रुकने का आदेश दिया होगा। उस आदेश में ही शायद दिल्ली की उत्पत्ति का रहस्य छिपा है। उस समय से आज तक दिल्ली रूपी पट पर अनेक चित्र अंकित हुए, अनेक लेख लिखे गये। इनमें से कुछ बिल्कुल मिट गये, कुछ मद्धिम पड़ गये और थोड़े से अभी भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। किन्तु जो चित्र दिल्ली के पट पर इन दस वर्षों में अंकित हुए हैं, वे बहुत गहरे और घने हैं। इनके रंग अभी भी गीले हैं, इसलिए हो सकता है हर देखने वाला इन्हें ठीक न समझ पाता हो। पर यह प्रायः सभी जानते हैं कि कुछ समय के लिए इन चित्रों के आगे पुराने सभी चित्र फीके पड़ते रहेंगे, क्योंकि ये चित्र इतने अधिक और इतने गहरे हैं कि इनके होते हुए पृष्ठभूमि के मौलिक अंकों को कोई शायद सूक्ष्म-यंत्र द्वारा ही ठीक से पढ़ सके।

यह विवरण गद्यमय छायावाद के सृजन का प्रयास नहीं। इसलिए यह उचित होगा कि हम चित्र-तूलिका संवाद से निकल कर हाड़-मांस के प्राणियों की चर्चा करें। आखिर जो परिवर्तन दिल्ली में हाल में हुए हैं उनका प्रमुख विषय तो प्राणी ही हैं। जो वीचियों का समुद्र से सम्बन्ध होता है वही प्राणियों का इन घटनाओं से है।

इन दस वर्षों में दिल्ली की जनसंख्या में गंभीर परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन संख्यासूचक ही नहीं, गुणसूचक भी है। हजारों, सम्भवतः लाखों, की संख्या में यहाँ के पुराने निवासी बाहर चले गये, और लाखों बाहर के लोग यहाँ आ बसे हैं। दिल्ली एक विशेष भाषा और एक विशिष्ट संस्कृति का प्रतीक थी। वह भाषा और संस्कृति अब लुप्त-सी हो चुकी है। उनका वही हाल हुआ है जो बाढ़ के समय छोटे-मोटे पुलों का हुआ करता है।

जब निवासी बदले, तो जीवन-धारा और साधारण रहन-सहन

का बदलना स्वाभाविक ही था। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो पंद्रह साल से कहीं विदेश में रह रहा हो और उससे पहले की दिल्ली से परिचित हो, आज राजधानी में आये, तो उसकी दशा "रिप वैन विंकल" की-सी होगी। गली-कूचों और इमारतों को पहचानता हुआ भी वह सब ओर नवीनता के ही दर्शन करेगा। गली-कूचे भी शायद उसे कुछ बदले हुए दिखाई दें। लाल किला, जामा मस्जिद आदि ऐतिहासिक स्मारक ही सम्भवतः उसे संशय में पड़ने से बचा सकेंगे।

जहाँ तक जीवन-धारा का सम्बन्ध है, उसमें परिवर्तन का अनुपात आंकने के लिए विदेश यात्रा की भी आवश्यकता नहीं। जो लोग सालों से यहीं विराजमान हैं इस परिवर्तन के प्रति उनका ध्यान ऐसे जाता है जैसे ठोकर लग कर गिरने वाले का सड़क की ओर। दिल्ली किसी समय अपने हलवाइयों, परांठेवालों, सलमा सितारे वालों, चाट वालों और तांगेवालों के लिए प्रसिद्ध थी। आज दिल्ली में और चाहे सब कुछ हो, पर ये लोग दिखाई नहीं देते। इनमें से बहुतेरे अब भी यहीं होंगे, पर उनसे मिलने के लिए यत्न करना पड़ता है। वे यहाँ होते हुए भी न होने के बराबर हैं। हलवाइयों में बहुमत अब बाहर से आये हुए लोगों का है। इसीलिए सोहन हलवे के स्थान पर अब सिंधी हलवा ही अधिक बिकता है।

परांठे वालों का व्यापार भी मन्दा पड़ गया है, क्योंकि एक परांठे वाले की जगह अब चार शामी कबाब और गोश्त रोटी वाले हैं। और चाट वालों को छोले कुलचे वाले हाथ करके ले गये। सलमा-सितारे और गोटा किनारी का वैसे ही फैशन नहीं रहा। फैशन का तो समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे-जैसे समाज बदलता है, ठीक वैसे ही फैशन भी बदलेगा। अब रहे तांगे वाले। कम-से-कम ८० प्रतिशत पुराने तांगे वाले दिल्ली से चले गये हैं। उनकी जगह नये आदमी यह काम करने लगे हैं। इनमें उन जद्दी तांगे वालों की बात कहां जो घोड़े से एक विशेष लहजे में बात किया करते थे, जो हर चिटकपड़िये को हुजूर और दरिद्र को गंवार कह कर सम्बोधित किया करते थे और जो खाली वक्त में सवारियों की राह देखते तांगे पर बैठे बैठे पतंग उड़ाया करते थे!

अस्तु, कौन गया, कौन आया, क्या बदला और क्या रहा, इसका विस्तृत विवरण इस पुस्तक में देने की चेष्टा की गई है। दिल्ली के

जीवन में घटित इन परिवर्तनों का विशेष महत्व इस लिए है कि दिल्ली पहले की भांति आज भी भारत का राजनीतिक केन्द्र है। रेखागणित अथवा भूगोल ने भले ही दिल्ली पर आघात किया हो और जो स्थान पहले ही देश के ठीक मध्य से दूर था अब सरक कर सीमावर्ती बन गया हो, पर शासन, राजनीति और विचारधारा की दृष्टि से दिल्ली इतना प्रभावपूर्ण केन्द्र पहले शायद ही कभी रहा हो जितना आज है। इसलिए दिल्ली के परिवर्तनों में देश की राजनीतिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है। दिल्ली की विगत घटनाओं के अध्ययन से स्वतन्त्र भारत की राजनीति और सामाजिक गतिविधि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इन दस वर्षों में घटनाचक्र बहुत तीव्रगति से घूमा है। महायुद्ध का संचालन, लोगों का सरल और सुखद जीवन, १६४२ का आन्दोलन, स्वतन्त्रता-सम्बन्धी वार्ता, स्वतन्त्रता अवतरण, देश का विभाजन, १६४७ के उपद्रव, लाखों शरणार्थियों का आगमन और एक लाख से ऊपर मुसलमानों का निष्क्रमण, गांधीजी की हत्या, शरणार्थियों की समस्या, निरन्तर बढ़ती हुई महंगाई, इत्यादि—ये हैं इस काल की विशेष घटनाएं।

एक तो ये घटनाएं स्वयं ही असाधारण महत्व की हैं, और फिर ये भारत की राजधानी में घटी हैं, इसलिए इनका महत्व और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार से गत दस वर्षों का भारत का इतिहास दिल्ली के इस दस वर्षीय घटनाचक्र में प्रतिबिम्बित होता है। हो सकता है, दिल्ली के निवासी इस विचारसे सहमत न हों। यदि यह ठीक है, इसमें दोष इन घटनाओं का नहीं, हमारी आंखों का है, बल्कि यह कहना चाहिये मानव-स्वभाव का है। निकट से देखने वाला हमेशा लाभ में नहीं रहता। द्रष्टव्य वस्तु के महत्त्व के अनुसार ही द्रष्टा और द्रष्टव्य में अन्तर रहना चाहिये। द्रष्टव्य जितना अधिक महत्त्वपूर्ण हो उतना ही अधिक दूर से देखा जाय तो अच्छा रहता है। हमने इन घटनाओं को बहुत निकट से देखा और बहुत पास से सुना है। इसीलिए हम प्राय: इन्हें विशेष रूप से असाधारण नहीं मानते। इसी सिद्धांत पर विश्वास करते हुए मेरा खयाल है कि भावी इतिहासवेत्ता ही इन घटनाओं के वास्तविक महत्त्व को आंक सकेगा।

जब दूध रुपये का नौ सेर था

एक पुरानी कहावत है, जो दिल्ली के आस-पास प्रचलित है और जिसे हम बचपन से सुनते आये हैं। वह है—"दिल्ली में १२ बरस रहे तो भी भाड़ ही झोंका।" सौभाग्य से मुझे यहाँ रहते अभी दस ही साल हुए हैं। यह कहावत कम-से-कम इस समय मुझ पर लागू नहीं होती, यद्यपि यह मैं जानता हूँ कि देर-सवेर मेरे ऊपर यह चरितार्थ अवश्य होगी। मुझ जैसे व्यक्तियों के लिये ही तो आखिर यह गढ़ी गई होगी।

सदियों से दिल्ली राजधानी रही है। यहाँ ही मुगल सम्राट् रहे। यहाँ ही आजकल राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री और अन्य उच्च अधिकारी रहते हैं। मुगलों के दिनों में प्रायः सभी जीवट के लोग किस्मत आजमाने दिल्ली ही आया करते थे। इतिहास से इस बात की पुष्टि होती है। शाह आलम ने एक हज्जाम (नाई) को दारोगा बना दिया था। कहते हैं एक दिन बादशाह बहुत सुस्त और चिन्तित-से थे। हज्जाम उनके बाल काटने आया। उसने उनके सिर की इतनी अच्छी मालिश की कि उन्होंने प्रसन्न होकर उसे कोतवाल का ओहदा बख़्शा दिया। इसी प्रकार नानबाई, माली, साधारण सिपाही आदि के भाग्य जागे। इसीलिये लोग दिल्ली की करामात के कायल हो गये। यह करामात मुगलों के साथ ही समाप्त नहीं हो गई। सम्राट् आते-जाते रहे, शासन बनते-बिगड़ते रहे, किन्तु दिल्ली का जादू बराबर बना रहा। आज भी उसी प्रकार बना है।

खैर, दूसरा विश्व युद्ध छिड़ते ही १९३९ में जब मैं दिल्ली आया, मेरे दो-चार पुराने मित्र भी उन्हीं दिनों यहाँ आ बसे थे उनमें से एक अध्यापक थे। वे अब भी यहीं विराजमान हैं। कूचा नटवां में किसी प्राइमरी में स्कूल ३० रुपये मासिक पर काम करने

लगे थे। वे रहते थे करौलबाग, जो उन दिनों दिल्ली का एक उपनगर था। एक दिन बहुत घबराये हुए मास्टर जी मेरे पास आये और बोले—"भाई मैं तो करनाल वापिस जा रहा हूँ। मालिक मकान से रात भर तू-तू मैं-मैं होती रही। टूटा-फूटा झोंपड़ा है उसका भी ३ रु० किराया मांगता है। आज तक तो सवा दो खुशी से लेता रहा, अब न जाने उसे क्या दिखाई दे गया जो........।"

छुट्टी का दिन था, मैं मास्टर जी के साथ हो लिया। मैंने सोचा, हमारे मित्र भावुक व्यक्ति हैं, कहीं मार-पीट पर नौबत न आ जाये। करौलबाग पहुँचते ही मैंने मालिक मकान से बात की। वह पास वाले घर में रहता था। दोनों मकान उसी के थे। उसने कहा—"मास्टर जी को मैं यहाँ नहीं रहने दूँगा। इनके बच्चों ने सब किवाड़ तोड़ दिये हैं।"

मैंने कहा भाई बच्चे तो शरारती होते ही हैं। तुम्हारे भी ऐसे ही होंगे।

तैश में आकर उसने उत्तर दिया—"जी हाँ मेरे भी ऐसे ही सही। पर मकान मेरा है। ऐसी बराबरी करनी है तो यह मकान खरीद क्यों नहीं लेते। ५५० रु० मेरे हवाले करें और फिर मकान इनका है, जो चाहें सो करें।"

मैंने चुनौती स्वीकार कर ली और उसी दिन चार मित्रों से रुपया इकट्ठा कर मास्टर जी के हवाले किया। अगले ही दिन उन्होंने रजिस्ट्री करवा ली और पक्के मकान मालिक हो गये।

इस झगड़े के कारण मित्र का भाग्य उदय हो गया। घर तो ईश्वर का नाम था, परन्तु उसमें तीन सौ गज़ जगह थी। चार साल बाद ज़मीन का दाम २५ रु० गज़ हो गया। मास्टर जी सौ गज़ में आप रहते रहे और २०० गज़ के दाम खड़े कर लिये। पैसा हाथ लगा तो मास्टरी छोड़ ठेकेदारी की सूझी। इस समय अच्छे खासे धनी हैं। नई दिल्ली में रहते हैं और मोटर बगैर पाँव नहीं रखते।

इसी तरह दिल्ली बहुतों को रास आई। जिन्हें नहीं आई वे अब भी भाड़ झोंकते हैं।

यह तो विषयांतर हो गया। मेरा असल उद्देश्य तो दिल्ली के सम्बन्ध में यहाँ अपने निजी अनुभव देना है। जब अक्तूबर १६३६ में मेरा दिल्ली आना हुआ, राजधानी उजाड़-सी थी। रौनक़ यदि कहीं

थी तो रेल के स्टेशन पर ही, क्योंकि सरकारी दफ्तरों की शिमले से उतराई शुरू थी। आठ-दस दिन मैं एक सम्बन्धी के यहाँ टिका। फिर एक दिन मकान की खोज में निकला। एक मित्र मुझे बाबर रोड पर ले गये। मार्केट में पहुँचते ही मेरे मित्र ने एक सब्जी बेचने वाले से कुछ पूछा और भारी-सा चावियों का गुच्छा उठा वह आगे-आगे हो लिया। एक दूसरे के बाद उसने हमें चार-पाँच मकान दिखलाये—छोटे पर साफ सुथरे, कोठीनुमा। उनमें से हम ने एक पसन्द कर ही लिया। किराया २४ रुपया महीना तय पाया।

बाबर रोड बड़ी खुली और सुन्दर जगह थी। उसके गुणों की चर्चा अब भूतकाल में ही की जा सकती है। अगले ही दिन मैं अपने मकान में आकर रहने लगा। मैंने नौकर से दूध का प्रबन्ध करने के लिये कहा। मैं बरामदे में बैठा अखबार देख रहा था कि मेरा नौकर एक डेयरी वाले को पकड़ लाया। मैंने कहा भाई हमें तीन सेर दूध हर रोज चाहिए। वह बड़ी अकड़ से बोला:............"साहब दूध तो जितना मर्जी हो लें, पर एक बात साफ हो जानी चाहिए। हम लोग अच्छा दूध बेचते हैं। शिमला डेयरी से लाते हैं। हमारा दूध महंगा पड़ेगा। सस्ता लेना हो तो आप किसी घोसी..........।"

मैंने बात काटते हुए कहा........"आखिर तुम क्या भाव लगाओगे।"

उत्तर मिला:"हम नौ सेर का लगा लेंगे। जी चाहे आप लें या न लें। कमती-बढ़ती नहीं होगा।"

मैंने भाव स्वीकार किया और सेर-सेर की तीन बोतलें ले लीं।

सस्ती उन दिनों सारी दुनिया ही थी, पर दिल्ली दुनिया से गज भर आगे बढ़ी थी। दूध, घी, फल, सब्जियाँ सभी अन्य शहरों की अपेक्षा यहां कुछ अधिक सस्ती थीं। कारण न जाने क्या था। मैंने कई दुकानदारों से पूछा। एक फल वाले ने कहा........"दिल्ली में फल की खपत थोड़ी है, इसी लिये सस्ते भाव बेचने पड़ते हैं।" जब परचून वाले से पूछा कि रोहतक का घी रोहतक की अपेक्षा दिल्ली में सस्ता कैसे बिकता है, तो उत्तर मिला:"........बाबू जी, भाव खपत पर निर्भर है। रोहतक में बिक्री थोड़ी और यहाँ बहुत अधिक है। इसी कारण यहाँ चार पैसे कम में उठा कर भी पड़ता खा जाता है।"

मैंने जो थोड़ा बहुत अध्ययन अर्थ-शास्त्र का किया था, ये तर्क

लगे थे। वे रहते थे करौलबाग, जो उन दिनों दिल्ली का एक उपनगर था। एक दिन बहुत घबराये हुए मास्टर जी मेरे पास आये और बोले—"भाई मैं तो करनाल वापिस जा रहा हूँ। मालिक मकान से रात भर तू-तू मैं-मैं होती रही। टूटा-फूटा झोंपड़ा है उसका भी ३ रु० किराया मांगता है। आज तक तो सवा दो खुशी से लेता रहा, अब न जाने उसे क्या दिखाई दे गया जो........।"

छुट्टी का दिन था, मैं मास्टर जी के साथ हो लिया। मैंने सोचा, हमारे मित्र भावुक व्यक्ति हैं, कहीं मार-पीट पर नौबत न आ जाये। करौलबाग पहुँचते ही मैंने मालिक मकान से बात की। वह पास वाले घर में रहता था। दोनों मकान उसी के थे। उसने कहा—"मास्टर जी को मैं यहाँ नहीं रहने दूँगा। इनके बच्चों ने सब किवाड़ तोड़ दिये हैं।"

मैंने कहा भाई बच्चे तो शरारती होते ही हैं। तुम्हारे भी ऐसे ही होंगे।

तैश में आकर उसने उत्तर दिया—"जी हाँ मेरे भी ऐसे ही सही। पर मकान मेरा है। ऐसी बराबरी करनी है तो यह मकान खरीद क्यों नहीं लेते। ५५० रु० मेरे हवाले करें और फिर मकान इनका है, जो चाहें सो करें।"

मैंने चुनौती स्वीकार कर ली और उसी दिन चार मित्रों से रुपया इकट्ठा कर मास्टर जी के हवाले किया। अगले ही दिन उन्होंने रजिस्ट्री करवा ली और पक्के मकान मालिक हो गये।

इस झगड़े के कारण मित्र का भाग्य उदय हो गया। घर तो ईश्वर का नाम था, परन्तु उसमें तीन सौ गज़ जगह थी। चार साल बाद ज़मीन का दाम २५ रु० गज़ हो गया। मास्टर जी सौ गज़ में आप रहते रहे और २०० गज़ के दाम खड़े कर लिये। पैसा हाथ लगा तो मास्टरी छोड़ ठेकेदारी की सूझी। इस समय अच्छे खासे धनी हैं। नई दिल्ली में रहते हैं और मोटर बगैर पाँव नहीं रखते।

इसी तरह दिल्ली बहुतों को रास आई। जिन्हें नहीं आई वे अब भी भाड़ झोंकते हैं।

यह तो विषयांतर हो गया। मेरा असल उद्देश्य तो दिल्ली के सम्बन्ध में यहाँ अपने निजी अनुभव देना है। जब अक्तूबर १६३६ में मेरा दिल्ली आना हुआ, राजधानी उजाड़-सी थी। रौनक़ यदि कहीं

थी तो रेल के स्टेशन पर ही, क्योंकि सरकारी दफ्तरों की शिमले से उतराई शुरू थी। आठ-दस दिन मैं एक सम्बन्धी के यहाँ टिका। फिर एक दिन मकान की खोज में निकला। एक मित्र मुझे बाबर रोड पर ले गये। मार्केट में पहुँचते ही मेरे मित्र ने एक सब्जी बेचने वाले से कुछ पूछा और भारी-सा चाबियों का गुच्छा उठा वह आगे-आगे हो लिया। एक दूसरे के बाद उसने हमें चार-पाँच मकान दिखलाये—छोटे पर साफ सुथरे, कोठीनुमा। उनमें से हम ने एक पसन्द कर ही लिया। किराया २४ रुपया महीना तय पाया।

बाबर रोड बड़ी खुली और सुन्दर जगह थी। उसके गुणों की चर्चा अब भूतकाल में ही की जा सकती है। अगले ही दिन मैं अपने मकान में आकर रहने लगा। मैंने नौकर से दूध का प्रबन्ध करने के लिये कहा। मैं बरामदे में बैठा अखबार देख रहा था कि मेरा नौकर एक डेयरी वाले को पकड़ लाया। मैंने कहा भाई हमें तीन सेर दूध हर रोज चाहिए। वह बड़ी अकड़ से बोला:............"साहब दूध तो जितना मर्जी हो लें, पर एक बात साफ हो जानी चाहिए। हम लोग अच्छा दूध बेचते हैं। शिमला डेयरी से लाते हैं। हमारा दूध महंगा पड़ेगा। सस्ता लेना हो तो आप किसी घोसी.........।"

मैंने बात काटते हुए कहा........"आखिर तुम क्या भाव लगाओगे!"

उत्तर मिला:"हम नौ सेर का लगा लेंगे। जी चाहे आप लें या न लें। कमती-बढ़ती नहीं होगा।"

मैंने भाव स्वीकार किया और सेर-सेर की तीन बोतलें ले लीं।

सस्ती उन दिनों सारी दुनिया ही थी, पर दिल्ली दुनिया से गज़ भर आगे बढ़ी थी। दूध, घी, फल, सब्जियाँ सभी अन्य शहरों की अपेक्षा यहां कुछ अधिक सस्ती थीं। कारण न जाने क्या था। मैंने कई दुकानदारों से पूछा। एक फल वाले ने कहा........'दिल्ली में फल की खपत थोड़ी है, इसी लिये सस्ते भाव बेचने पड़ते हैं।" जब परचून वाले से पूछा कि रोहतक का घी रोहतक की अपेक्षा दिल्ली में सस्ता कैसे बिकता है, तो उत्तर मिला:"........बाबू जी, भाव खपत पर निर्भर है। रोहतक में बिक्री थोड़ी और यहाँ बहुत अधिक है। इसी कारण यहाँ चार पैसे कम में उठा कर भी पड़ता खा जाता है।"

मैंने जो थोड़ा बहुत अध्ययन अर्थ-शास्त्र का किया था, ये तर्क

सुन कर वह भी घपले में पड़ गया। किस की सच मानूँ और किस की झूठ, कई दिन के विचार के बाद भी मैं इसका निर्णय न कर सका। हमें हर चीज ही घर के आगे मिल जाती थी। या टेलीफोन पर आर्डर दे कर मंगा लेते थे। यहाँ के लोगों की ईमानदारी और व्यापार-बुद्धि से भी मैं काफ़ी प्रभावित हुआ।

नौकरी करने से पहले दिल्ली में आया तो कई बार था, परन्तु कभी दो-चार दिन से अधिक यहाँ ठहरना नहीं हुआ था। यहाँ के बाज़ारों और गली-कूचों से एकदम अपरिचित था। यहाँ रहते मुझे लगभग छः महीने होने को आये थे। एक दिन किसी कार्यवश मुझे बहुत घूमना पड़ा। उस दिन मैंने कई नये बाज़ार देखे। घर आकर मुझे अपने मित्र श्री बुखारी के एक लेख की याद आ गई। वह लेख है "लाहौर का जुग़राफ़िया।" श्री बुखारी की प्रसिद्ध पुस्तक "मजामीने पित्रस" में मैंने उपर्युक्त लेख पढ़ा था। लेख में बुखारी महोदय ने लाहौर के विचित्र भूगोल का विवेचन किया है। मैंने सोचा, यदि बुखारी साहब दिल्ली पर कुछ लिखते तो उनके लेख का शीर्षक कुछ और ही होता। भूगोल और इतिहास तो दिल्ली के चारों ओर बिखरा पड़ा है। उस में कोई विशेषता नहीं। श्री बुखारी की प्रतिभा किसी और ही दिशा में जाती। उन के लेख का शीर्षक होता "दिल्ली का गणित"। गणित से बढ़ कर दिल्ली को और कुछ प्रिय नहीं। इस बात के मेरे पास ठोस प्रमाण मौजूद हैं। यदि आप अभी सदर बाजार जायें, तो थोड़ी दूर चल कर ही आप एक खुले चौक में पहुंच जाएंगे जिस का नाम है बारह टूटी। वहां से सीधे यदि पहाड़ गंज चले जाएंगे तो छः टूटी जा पहुंचेंगे। वहाँ से आप नई दिल्ली में प्रवेश ही नहीं कर सकते जब तक पंचकुई के दर्शन न करें। और नई दिल्ली पहुँच कर आप बारह खम्भा तो घूमने निकलियेगा ही। गणित के इतने स्मारक आप को और कहीं आसानी से नहीं मिलेंगे।

बारह खंबा का नाम लेते ही मुझे एक बात याद आ गई। मेरे बड़े भाई कई वर्ष दिल्ली रहे हैं। १९३२ में वे दरियागंज से नई दिल्ली आ गये, क्योंकि वहां से दफ्तर नज़दीक पड़ता था। उन दिनों मैं इलाहाबाद में पढ़ता था। नये पते से मुझे सूचित करते हुए भाई साहब का पत्र मेरे पास आया, जो इस प्रकार था!.......

"प्रिय.........

दरियागंज का मकान छोड़ मैं अब नई दिल्ली आ गया हूँ। काफ़ी अच्छी और खुली कोठी मिल गई है। हाँ, किराया कुछ अधिक है, २६ रु० मासिक ठहरा है। मेरा पता है न० १३, बारहखंबा रोड। बारह खंबा नई दिल्ली का सुबर्ब (उपनगर) है। उजाड़ अवश्य है, किन्तु नई दिल्ली से बहुत दूर नहीं। फिर भी ढूंढ़ने में तुम्हें शायद कठिनाई हो। इस लिये आने से पहले पत्र लिख देना, मैं तुम्हें स्टेशन पर मिल जाऊँगा.......।"

गेहूँ कोयला एक भाव

तीन साल दिल्ली में बहुत सुख से बीते। यूरोप में और मध्यपूर्व के रेगिस्तान में घमासान युद्ध चल रहा था। दिल्ली अलौकिक धैर्य और संतोष से लड़ाई की खबरें सुनती और पढ़ती। अनेक कारणों से दिल्ली के लोग युद्ध के परिणाम के प्रति कभी चिन्तित दिखाई नहीं देते थे। मुझे याद है......अप्रैल १६४० की बात है कि एक दिन सायंकाल मैं कुछ मित्रों के साथ कनाटप्लेस में भटरगश्ती कर रहा था। अचानक एक अखबार बेचने वाला चिल्लाया—"शाम का ताजा अखबार। हिटलर पैरिस में पहुँच गया........सारे फ्रांस पर नाजियों का कब्जा........" सभी ने यह खबर सुनी, आश्चर्य से पल-भर के लिये भौंहें सिकोड़ीं और फिर सुनी-अनसुनी कर सब लोग अपने अपने धंधों में व्यस्त हो गये। मेरा मित्र बराबर एक के बाद दूसरा जूता देखता रहा। किसी में कोई दोष निकलता और किसी का चमड़ा हल्का बतलाता। पैरिस में जर्मन सेनाओं के प्रवेश की खबर अच्छा बूट पहनने के उसके चाव को रत्ती भर भी कम न कर सकी। सामने की दूकान से एक सज्जन तौलिये खरीद रहे थे। दूकानदार ने तौलियों का ढेर लगा दिया, किन्तु साहब को जिस विशेष कारखाने का बना तौलिया चाहिये था, वह नहीं मिल रहा था। सुन्दर तौलियों के ढेर को अछूता छोड़ साहब सपत्नीक निःसंकोच आगे बढ़ गये।

मेरे हाथ में दो पैसे का समाचार-पत्र था। मैं जैसे ही दो-चार लाईनें पढ़ता, आँख उठा कर दायें-बायें देख लेता। सभी कार्य पहले की तरह हो रहे थे। ओडियन के सामने आलू की टिकिया और चाट वाला ग्राहकों के लिये पत्ते परसता-परसता थक गया था। सिनेमा-घरों के सामने प्रतिदिन की तरह भीड़ लगी थी। कई लोग बगल में अखबार दबाए हुए थे, किन्तु शायद पढ़ने के लिये विशेष उत्सुक न थे। अभि-

नेताओं और अभिनेत्रियों के चित्र उन्हें अधिक आकर्षित कर रहे थे।

सरकारी क्षेत्रों में कोई विशेष हलचल अथवा घबराहट नहीं थी। सभी लोग शिमला जाने की तैयारी में थे। बड़े अफ़सर सम्भवतः दिल्ली की बढ़ती हुई गरमी में कुछ सोच नहीं पा रहे थे। क्लर्क-समाज का उत्साह तो अदम्य था। मैंने कई एक को यह कहते हुए सुना, "मियां, कोई हारे कोई जीते, सन्तों की बला से, यहाँ तो क्लर्की करनी है, हम पर कौन सवारी गांठता है इससे हमें क्या मतलब। जैसा अँग्रेज, वैसा जर्मन।"

युद्ध के पहले दो वर्षों में वास्तव में बहुतों का यही दृष्टिकोण था। युद्ध का प्रभाव हम लोगों पर पड़ा ही क्या था। सब बेकार लोगों को नौकरी मिल गई, ठेकेदारों ने हाथ रंग लिये और अनेक सरकारी कर्मचारियों के वेतन इस तीव्र गति से बढ़ने लगे कि स्वयं उनकी कल्पना इस दौड़ में पिछड़ गई। लड़ाई का पहला चरण हमारे लिये मीठा ही मीठा था। कड़वाहट इसमें नाम को न थी। हाँ, हमारे राजनीतिक नेतागण असंतुष्ट थे। जनसाधारण भी कांग्रेस के प्रति श्रद्धा और आस्था रखने के कारण, उनकी हाँ में हाँ मिलाता था। किन्तु असल में वह जिस मंच पर खड़ा था, वह युद्धजन्य सुअवसरों के निकट और नेताओं के आशीर्वाद से कुछ दूर था। समय के अनुसार सभी अपने-अपने धर्म का पालन करते रहे। जनता निःसन्देह कांग्रेस के साथ थी, किन्तु आँख बचा कर सरकारी युद्ध प्रयत्नों में भी योग देती थी। इस योगदान का युद्ध के परिणाम अथवा हमारे शासकों की अपीलों से इतना सम्बन्ध नहीं था, जितना निजी स्वार्थ और धनोपार्जन की आकांक्षा से।

१९४१ के समाप्त होते ही पासा पलटा। जापान युद्ध में कूदा और हमें भी हवा का झोंका-सा लगा। लड़ाई के समाचारों में दिल्ली के लोगों की रुचि बढ़ी। युद्ध की विभीषिका उन्हें शायद पहली बार हिन्दुस्तान की ओर लपकती हुई दिखाई दी। दिल्ली के लोग अब जहाँ मिलते और बातचीत करते, घर गृहस्थी के मामलों के साथ-साथ युद्ध की खबरों की समीक्षा भी करने लगे।

अब आवश्यक वस्तुओं के भाव की ओर भी ध्यान जाने लगा। चीनी चार आने से बढ़कर एकदम सात आने सेर हो गई। चीनी की चर्चा ही शुरू हुई थी कि गेहूँ बाजार से गायब हो गया। जिसे यह भी

पता न होता था कि घर में कितना आटा आता है, कहाँ से और किस भाव लिया जाता है, अब वह सच्चे अर्थों में आटे-दाल की चिन्ता में डूब गया।

रविवार के दिन मुझे एक बार चार घंटे आटे की खोज में पहाड़गंज के चक्कर लगाने पड़े। जिससे बात की वही कस्में खाता कि दूकान में आटा या गेहूँ ही नहीं है, बाकी सब कुछ है। इस काम में मैं कुछ अनजान-सा भी था। हमेशा नौकर के भरोसे काम चलता था। मैं इन कस्मों का अभिप्राय न समझ पाया। सौभाग्य से श्री कुलवन्तराय मिल गये, जिन्होंने दो महीने पहले ही मेरा बीमा किया था। देखते ही वे मुझे अपने घर ले गये। मैंने कहा........"मित्र इस समय आटा चाहिये, घर में मुश्किल से सेर भर होगा। कहीं से दिलवाइये ना।"

कुलवन्तराय तो जन्म से सज्जन थे, और मित्र को आफत में देखकर पिघल भी पड़ते थे। इसीलिये वे इतने सफल इन्शोरेन्स ऐजेन्ट थे। उन्होंने आग्रह किया कि मैं बैठा रहूँ, वे स्वयं २० सेर आटा कहीं से ले आयेंगे। वे चले गये और आध घंटे में ही आटा लेकर लौट आये। २० सेर आटा साढ़े आठ रुपये का था।

घर पहुँच कर आटे की बोरी रख दी और मैंने उसे इस अन्दाज़ से देखा जैसे शिकारी अपने मृत शिकार को देखता है। दो दिन बाद ही ईंधन खत्म हो गया। गेहूँ की तरह ही कोयला भी ढूँढ़-खोज कर पहाड़गंज के किसी कोने से १६ रु० मन के हिसाब कृतज्ञता-पूर्वक प्राप्त किया गया। ऐसे ही चावल, घी, तेल आदि यकायक रसातल को पहुँच गये। इन चीज़ों की नियमित खोज ने छोटे-बड़े और क्लर्क-अफ़सर के भेदभाव को बड़ी सुन्दरता से दूर कर दिया।

राशन व्यवस्था चालू हो जाने के बाद भी महीनों आटा दाल ही बहुतों के जीवन का ध्येय रहा। वैसे तो यह काम दिल्ली की परम्परा के ठीक अनुरूप है, परन्तु फिर भी शुरू-शुरू में कुछ खटका। हमारे स्वर्गीय नानाजी जो दिल्ली में २० साल रहे, कहा करते थे कि दिल्ली में सदा दो प्रकार के लोग ही रहा करते हैं।........एक तो वे जिन्हें केवल आटा-दाल बेचने की चिंता रहती है, और दूसरे वे जिन का एक मात्र ध्येय ये चीज़ें ख़रीदना और उन्हें पचाना है। इसीलिये तो दिल्ली में अनेक भव्य होटल हैं, भवन हैं, विशाल दफ्तर हैं, पर पुस्तकालय एक भी नहीं। दिल्ली का जलवायु अध्ययन या किसी

भी प्रकार की सांस्कृतिक दौड़-धूप के सर्वथा प्रतिकूल है। स्वर्गीय नाना के इस कथन की सच्चाई १६४२-४३ में मेरे हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गई।

युद्ध की परिस्थितियों का दिल्ली पर एक और प्रभाव पड़ा। आगे तो सरकारी दफ़्तर दिल्ली का एक भाग थे, अब दिल्ली इन दफ्तरों का एक भाग बन गई। दफ़्तरों की, कर्मचारियों की, दफ़्तर बनाने वालों और कर्मचारी नियुक्त करने वालों की संख्या इतनी बढ़ गई कि शेष दिल्ली इस विस्तृत जगत में डूब गई। एक दिन तो मुझे बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। बड़ोदा से एक मित्र का पत्र आया, जिसमें कहा गया था कि मैं किसी कार्य के लिये एक सज्जन से मिलूँ जो मानसिंग रोड पर रहते थे। पत्र में कोठी का नम्बर नहीं दिया गया था। काम बहुत आवश्यक था, सो उसी दिन मैं मानसिंग रोड पहुँचा। चिट्ठी में दिये गये विवरण के अनुसार मैं एक कोठी के अन्दर चला गया। सामने वाले कमरे में देखता क्या हूँ कि बहुत से लोग बैठे टाइप कर रहे हैं। मैंने दरवाज़ा खटखटाया। एक व्यक्ति मेरे पास आये। मैंने कहा श्रीमान् साहू वासनजी से मिलना चाहता हूँ।

उत्तर मिला: "यह तो सरकारी दफ़्तर है जी, सप्लाई डिपार्टमैंट की ब्राँच एल०, सेक्शन सी०-१३।"

मैं उलटे पाँव वापिस हो लिया। फिर से पत्र निकाल कर पढ़ा। कहीं मैं ग़लती में तो नहीं था। चूँकि साथ वाली कोठी भी वैसी ही थी मैंने उसमें घुसने का दुःसाहस किया। अन्दर पहुँचने की नौबत ही नहीं आई। सन्तरी ने गेट पर ही रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि वहाँ फूड डिपार्टमेंट (खाद्य विभाग) की कोई शाखा डटी हुई है। मैं निराश तो हो ही गया था, लौटने से पहले एक और प्रयत्न करना ठीक समझा। उसी सड़क पर अन्त में एक विशाल भवन की ओर मैं बढ़ा। अन्दर जाकर सेठ वासनजी के बारे में पूछा। एक सफेद वस्त्रधारी व्यक्ति ने झुक कर सलाम किया और पूछा सेठ साहब किस डिपार्टमेंट में हैं और उनका वेतन क्या है।

कैसा वेतन, कैसा डिपार्टमेंट, मैंने चिल्ला कर कहा। वे तो बड़ोदा के लखपति व्यापारी हैं। इसी सड़क पर उनकी दो-तीन कोठियां हैं। आजकल दिल्ली आये हुए हैं।

स्वागत-कर्ता ने क्षमा माँगी और कहा......"यह तो जनाब सरकारी अफ़सरों का होस्टल है।"

दिल्ली जिस बेतुके ढंग से फैल रही थी, उससे मैं परिचित था, फिर भी उस दिन की घटना से मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। प्रायः सभी बड़ी-बड़ी खाली कोठियाँ और राजाओं के महल सरकार ने प्राप्त कर लिये थे। किसी में दफ़्तर और किसी में दफ़्तर वाले आ बसे थे। दर्जनों सड़कों पर खाइयाँ खोदी जा रही थीं और हवाई हमले से बचाव की व्यवस्था की जा रही थी। कलकत्ते पर एक-दो हमले हो चुके थे। दिल्ली में जगह-जगह विचित्र ढंग के शरण घर बनाये गये थे, जो देखते ही बनते थे। भोंपू बजा कर और घटाटोप अँधेरा करके दिल्ली के लोगों को हमले से रक्षा का अभ्यास भी कराया गया।

इस भयावने नाटक के कारण दिल्ली के लोगों में विशेष घबराहट पैदा नहीं हुई, बल्कि थोड़ा-बहुत मनोरंजन ही हुआ। धनी लोग शायद घबराये हों किन्तु जिन्हें अपने और अपनों के शरीर की ही रक्षा करनी थी उन्हें शरण घरों की पक्की दीवारों पर और तिर्छी खन्दकों पर भरोसा था।

अभ्यास होते रहे। जापानी मणिपुर में आ घुसे, कलकत्ते पर शत्रु के अधिकार की भविष्यवाणियाँ होने लगीं। परन्तु दिल्ली वाले विचलित नहीं हुए। जामा मसजिद पर शाम के समय वही भीड़, चाँदनी चौक में वही रौनक और कनाट प्लेस में पहले-सी चहल-पहल बराबर बनी रही। शत्रु द्वारा आक्रमण की शंका सब को थी, किन्तु इस पुण्यभूमि में शत्रु का आगमन हितकर होगा अथवा अहितकर, इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार वाले इने-गिने व्यक्ति होंगे। बहुमत निःसंदेह उन लोगों का था, जो जापानियों को शिव के उपासक मानते थे।

कुछ भी हो, दिल्ली के लोग ऐसी परिस्थितियों में विचलित होना नहीं जानते। शासन सत्ता की उलटफेर, सल्तनतों का ढह जाना, बाह्य आक्रमण—इन सब को तो दिल्ली वाले हज़ारों वर्षों से देखते आये हैं। इन घटनाओं की छाप दिल्ली की सभ्यता, यहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज और विचारधारा पर भी पड़ी है। इसकी चर्चा हम आगामी लेखों में करेंगे।

सामाजिक जीवन पर एक दृष्टि

१६३६-४० में पुरानी दिल्ली का जो जीवन था, आज उसकी कल्पना मात्र से ऐतिहासिक खोज का आभास होता है। कैसे विचित्र थे वे दिन, जब कश्मीरी गेट से औरंगजेब रोड (नई दिल्ली) तक जाने में यात्रा की झलक दिखाई देती थी। कम से कम मुझे इतनी दूर जाने के लिये कई दिन पहले दिल में तैयार होना पड़ता था। आने-जाने का कोई प्रबन्ध नहीं था। बसें थीं ही नहीं, तांगे खूब सस्ते मिलते थे, पर बहुत दूर जाना पसंद नहीं करते थे। दिल्ली के तथा और किसी भी ठिकाने के शहर के ताँगों में वही अन्तर है जो दियासलाई की डिबिया और मजबूत काठ के डिब्बे में। बने दोनों लकड़ी के हैं, परन्तु एक इतना हल्का और छोटा है कि आँधी में बिना घोड़े के उड़ सकता है। दूसरा जरा भारी और बड़ा होता है। परन्तु इन दिनों दिल्ली के ताँगों में कुछ सुधार हुआ है।

यातायात के साधन न होने के बराबर थे, इसीलिये नई दिल्ली और पुरानी दिल्ली में इतना ही मेलजोल था जितना गाहक और दुकानदार में होता है। असल में सरकारी नौकरों की दृष्टि से, नई दिल्ली से शिमला नजदीक पड़ता था और पुरानी दिल्ली दूर। पहले मैंने इस बात पर विश्वास नहीं किया। कुछ दिनों में ही प्रमाण मिल गया। एक मित्र सप्लाई विभाग में काम करते थे। नई दिल्ली आने से पहले ५ साल शिमला में रहे थे। यहाँ आते ही उन्हें सरकारी मकान मिल गया। एक साल के बाद किन्हीं कारणों से उन्हें सिविल लाइन्स (पुरानी दिल्ली) में घर लेना पड़ा। १६४२ से आज तक वे वहाँ रह रहे हैं और शायद वहीं से रिटायर हो जायेंगे, क्योंकि अब वे नई दिल्ली में सरकारी मकान प्राप्त करने के हक़दार नहीं। सो शिमला नई दिल्ली का मुहल्ला ठहरा और पुरानी दिल्ली दूसरा शहर। मकान-सम्बन्धी इन

सरकारी नियमों से दोनों दिल्ली के आपसी सम्बन्ध पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

वैसे तो उन दिनों पुरानी दिल्ली ही परम्परागत दिल्ली थी। नई तो सचमुच ही नई थी। नई दिल्ली के जीवन पर आगे चल कर विचार करेंगे, आज पुरानी दिल्ली की सैर की जाय।

चाँदनी चौक और कश्मीरी गेट में रहने वाले कई मित्रों के यहाँ मेरा आना-जाना था। एक मित्र कटरा नील में रहते थे। ये धनी थे और कम से कम बीस मकानों के मालिक। एक दिन छुट्टी के रोज़ इनके यहाँ जाना हुआ। ख़याल था, सब लोग मिल कर कुतुब चलेंगे। मेरे मित्र का नाम कैलाश है। बैठक में कैलाश के पिता और घर के कुछ लोग बैठे थे। नमस्कार कर मैं भी वहीं बैठ गया। आधे घंटे बाद कैलाश आ गये। उनके पीछे एक और सज्जन थे। ये थे कैलाश जी के कुल-ज्योतिषी। कैलाश के पिता जी ने ज्योतिषी जी के घुटने छुए और कहा—"छोटा मुन्ना किसी काम से कलकत्ते जा रहा है, आप तिथि निकालें तो इसे भेजने की तैयारी करूँ।"

मुझे काफ़ी आश्चर्य हुआ कि कैलाश और उनके भाई दोनों पढ़े-लिखे समझदार आदमी हैं, फिर भी ज्योतिषी इनके जाने का समय और दिन निश्चित करते हैं। पता लगा कि यह कुल की परम्परा है। सो इसे जारी रहना ही चाहिये।

मैं बैठा-बैठा उकता गया। कैलाश से पूछा, कुतुब चलने का इरादा है या नहीं।

"ज़रूर चलेंगे, घबराओ मत।"

यह उत्तर पा कुछ सन्तोष हुआ। इतने में ही पिता जी की आज्ञा हुई मुन्नो को हकीम जी के यहाँ ले जाया जाय। हकीम भूरे खां बल्लीमारान में हिकमत करते थे। मैं भी कैलाश के साथ हो लिया। वहाँ बहुत से रोगी एक कमरे में बैठे थे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद एक आदमी नाम पुकारता था और रोगी एक-एक कर के हकीम साहब के रूबरू पेश होते थे। वातावरण अस्पताल का नहीं वरन् कचहरी का था।

आख़िर हम लोगों की भी बारी आई। हकीम भूरे खाँ के ठाठ देख कर बहुत आश्चर्य हुआ। ठीक मुग़लकालीन अन्दाज़ में वे बैठे थे। चाँदनी बिछी थी। हुक्का किसी दूसरे कमरे में होगा। बिजली की

तार की तरह एक लम्बी नली हुक्के को हकीम साहब से मिलाये हुए थी। दूर से ही उन्होंने मुन्नी को देखा। कुछ प्रश्न किये और पाँच मिनट में ही नुस्खा लिख कर कैलाश के हवाले किया। बाहर आ कर मैंने कैलाश को बहुत बुरा-भला कहा। वे दक़ियानूसी हकीम जादूगर ही होंगे अगर इनके इलाज से किसी को भी लाभ होता हो। परन्तु दो सप्ताह बाद मुन्नी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो समाचार मिला, उससे यही सिद्ध हुआ कि भूरे खाँ जादूगर हैं।

कुतुब जाने का विचार त्यागना पड़ा। बहुत देर हो चुकी थी। सब लोग हाथ पैर धोकर खाना खाने के लिये बैठ गये। हर एक थाल में आठ-आठ कटोरियाँ थीं। इनमें से चार में चटनी और अचार आदि थे, बाक़ी में मिर्चों की परत से ढकी सब्जी और दाल। मैं मिर्च खाने का आदी नहीं, इसलिए थोड़े से चावल चटनी आदि से खा कर उठ खड़ा हुआ।

कैलाश के साथ मेरा घर का सा सम्बन्ध था। कोई औपचारिकता नहीं थी। शाम के समय मैं जब कभी भी उनके यहाँ गया, हमेशा चाट और दही-बड़े से मेरी ख़ातिर की गई। असल में दिल्ली के लोग शाम को चाय आदि कम पीते हैं। प्रायः चाट का ही सेवन करते हैं। मैंने चाट बेचने वालों की दो चार दुकानें देखीं। उनके सर्राफ़ों के से ठाठ थे। कई-कई नौकर, गाहकों की भीड़, सैकड़ों रुपये की रोज़ाना बिक्री। पता लगा कि इम्पीरियल बैंक के पास एक चाट वाला एक छोटे से कमरे का ७० रु० मासिक किराया देता है। ख़याल कीजिए १६३६ में यह किराया कितना अधिक था, जबकि ४० रु० में अच्छी खासी कोठी रहने के लिये मिल जाती थी। इस से जान पड़ता है कि चाट वालों का व्यापार कितना चमका हुआ था।

पुरानी दिल्ली में मनोरंजन के साधन इने गिने ही थे। रईस लोग तो दो घोड़े की फिटन में बैठ कर चार-पाँच मील की हवाख़ोरी को ही मनोरंजन समझते थे। अधिक से अधिक कुदसिया बाग़ में आध घंटा बैंच पर बैठ लिये। मध्यम वर्ग के लोग जामा मस्जिद और लाल किले के सामने जो विशाल मैदान है उस में घूम-फिर कर या बैठ कर दिल बहलाते थे। इन मैदानों में शाम के समय दर्जनों टोलियाँ इधर-उधर बैठी दिखाई देतीं। कहीं ताश, चौपड़ या शतरंज की बाज़ी गरम होती थी और कहीं कविता पाठ और फ़िल्मों के गीत गाये जाते

थे। कहीं-कहीं गम्भीर लोग बीड़ी का सेवन करते हुए बाज़ार भाव और सोना चाँदी के रुख की समीक्षा करते भी दिखाई देते थे। कुछ शौकीन और हिम्मती लोग भोजन के बाद कपड़े बदल कर रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्मों पर चहल कदमी को ही मनोरंजन मानते थे। सिनेमा घरों में इतनी भीड़ नहीं होती थी। इस उद्योग के कर्णधार दिल्ली को थर्ड क्लास केन्द्र मानते थे।

पढ़ने लिखने के व्यसन से दिल्ली वाले सदा दूर रहे हैं। यहाँ उन दिनों चार या पांच कालेज थे, जिन में कम से कम तीन-चौथाई बाहर के विद्यार्थी पढ़ते थे। मैंने एक सज्जन से इस का कारण पूछा, तो उत्तर मिला: "इस में हैरान होने की कौन सी बात है। यहाँ सदियों से तीन ही श्रेणियों के आदमी रहते आये हैं। एक तो वे लोग जिन्हें खानदानी रईस कहते हैं, जो या तो वास्तव में अमीर हैं और खाने-कमाने की तरफ़ से निश्चिन्त हैं या अमीरी की भावना के सहारे जी कर कुछ न करने में ही कल्याण समझते हैं। दूसरे हैं मध्यम श्रेणी के लोग जो व्यापार, मुनीमी, मुंशीगीरी, नौकरी आदि से निर्वाह करते हैं। इतना ही पढ़-लिख लेना ये लोग काफ़ी समझते हैं, जिस से दुकानदारी या नौकरी के काम में सहायता मिले। तीसरे हैं मज़दूर या श्रमिक जिनका विद्या से उतना ही सम्बन्ध रहा है जितना आपका या मेरा रेल के इंजन से। अब बताइये पढ़ें तो कौन पढ़ें। जो थोड़े बहुत लड़के यहाँ के कालेजों में दिखाई देते हैं उन में बहुत से नई दिल्ली के हैं।"

दिल्ली के गली कूचों में घूमने वाला कोई भी व्यक्ति एक-विचित्र चीज़ को ध्यान से देखे बिना नहीं रह सकता। वह चीज़ है पालकी। पर्दा प्रथा के उठ जाने से इस बात का रिवाज अब तो कम हो गया है, परन्तु उन दिनों गली-कूचों में यहाँ वहाँ पालकियाँ ही पालकियाँ दिखाई देती थीं। दिल्ली की पर्दानशीन औरतों के लिये शहर के भीतर आने-जाने का यही एकमात्र साधन था। प्रातःकाल बहुत-सी हिन्दू महिलाएं पालकी में यमुना स्नान के लिये जाती थीं। कभी-कभी तो घाट के पास पालकियों की ऐसी भीड़ होती जैसे आज कल रेलवे स्टेशन पर तांगों की होती है।

कैलाश जो पालकी के गुणों से बहुत प्रभावित हैं। उन का कहना है कि पालकी बहुत सुन्दर और साफ़ सुथरी सवारी है। इस

में दुर्घटना की कोई आशंका नहीं। म्युनिसिपल कमेटी को भी परेशानी नहीं होती, क्योंकि पालकी उठाने वाले कहार सड़कों को गंदा नहीं करते, जब कि ताँगों के घोड़े बे-सोचे समझे जहाँ पाते हैं लीद कर देते हैं।

अपने जीवन की सभी विशेषताओं से दिल्ली के लोगों को प्रेम है। अपने रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में वे जब कभी भी विचार करते हैं, उन्हें निजी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के ठीक अनुकूल समझते हैं। दिल्ली वाले परिवर्तनशीलता के विरोधी नहीं, पर वे बेमतलब रंग बदलने के भी पक्ष में नहीं हैं।

सामाजिक जीवन का दूसरा पहलू

कला और संस्कृति की दृष्टि से बहुत से लोग दिल्ली को शून्य मानते हैं। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। दिल्ली की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ उतनी ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी किसी भी अन्य ऐतिहासिक नगर की। शायद बहुत से बड़े शहरों की अपेक्षा दिल्ली का अतीत अधिक उज्ज्वल रहा है। इतिहास में तो उसका ऊँचा स्थान है ही, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी उसका दर्जा गौण नहीं। मुग़ल-कालीन साहित्य से दिल्ली का विशेष सम्बन्ध है। साहित्यिकों और कलाकारों को राज दरबार में प्रश्रय मिलता था। उस समय की परम्परा न्यूनाधिक १६४० तक बराबर बनी रही। वास्तव में दिल्ली उस पुराने तालाब की भ्रांति है जिसकी दीवारों पर कई इंच मोटी काई जम गई हो। जो कोई भी समझने में उतावले-पन से काम लेगा वह अवश्य काई पर फिसलेगा और गिर कर रहेगा। दिल्ली की परम्परागत जीवन धारा को समझने के लिये थोड़े से परिश्रम और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता है।

विगत दस वर्षों में दिल्ली के सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हुआ है वह इस नगर के लिये अपूर्व है। सम्राटों के वध, सल्तनतों के उलट-फेर और तैमूर जैसे आततायियों की लूट-मार के कारण भी ऐसा परिवर्तन कभी नहीं हुआ। क्रांतियाँ हुईं, दिल्ली लुटी, गली-कूचे खून से लथपथ हुए, पर समय के मरहम ने सभी घावों को सुखा दिया। वे परिवर्तन कभी ढलती-फिरती छाँव से अधिक स्थायित्व प्राप्त न कर सके। किन्तु जो परिवर्तन दिल्ली ने इन दस वर्षों में देखा है वह चिरस्थायी जान पड़ता है। दिल्ली सदा के लिये परम्परागत मार्ग से विदा ले चुकी है, इस लिये यह आवश्यक है कि यहाँ के विगत सामाजिक जीवन पर एक नज़र डाली जाय।

पुरातन के अवशेष

१९३९-४० में राजधानी की जीवन-धारा प्रशान्त गति से बह रही थी। सैंकड़ों मील दूर घटने वाली युद्ध की सनसनीपूर्ण घटनाओं का तो दिल्ली पर प्रभाव होना ही क्या था, वह स्वयं अपने वक्षस्थल पर लड़े जाने वाले अनगिनत युद्ध देख चुकी थी। यह कहावत है कि कोई माल मस्त, कोई खाल मस्त। तो दिल्ली प्राचीनता के अवशेष लिये खाल मस्त थी। फिरोजशाह कोटला या और किसी भी सैर-सपाटे की जगह पर सूर्योदय या सूर्यास्त के समय कोई भी दिल्ली की प्रौढ़ बेफिक्री का प्रमाण प्राप्त कर सकता था। एक उदाहरण काफ़ी होगा।

रविवार के दिन मैं प्रायः फिरोजशाह कोटला घूमने के लिये जाया करता था। अक्टूबर का महीना था। एक दिन घूमते-फिरते वहीं आठ बज गये। लौट ही रहा था कि मुझे आवाज़ सुनाई दी, "बाबू साहब ज़रा हमारी भी सुनिये........एक फ़ैसला कर दीजिये।"

जिधर से आवाज़ आई थी मैं उधर मुड़ा, देखा बाहर के लान में पुरानी रईसी वजाकता के १५-२० मुसलमान बैठे हैं। उन्हीं में से एक ने मुझे बुलाया था। सफ़ेद चिकन का कुर्ता, तनजेब का अंग-रखा, चुस्त पायजामा, गोल टोपी, सलमे सितारे की वसली जूती—थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ सभी का यही एक सा पहनावा था। एक-दो की सफ़ेद दाढ़ी उनकी बुजुर्गी की सूचक थी।

मैं मंडली की ओर गया। घास पर बैठे ये लोग गप्पें लड़ा रहे थे। पास ही तीन दुँबे चर रहे थे। उनकी रस्सियाँ मंडली के तीन आदमियों के हाथों में थीं। बाँस के दो पिंजरों में तीतर टायँ-टायँ कर रहे थे। जैसे ही मैं पहुँचा, एक सफ़ेद दाढ़ी वाले बुजुर्ग ने बैठने के लिए कहा। मैं बैठ गया। मेरी ओर देखते हुए वे बुजुर्ग बोले: "मुआफ़ कीजिएगा बाबू साहब ख़ाह-म-ख़ाह आपको तकलीफ़ दी। ज़रा इन साहब की दलील सुनिये। ये फर्माते हैं कि छः महीने के अन्दर-अन्दर हिटलर बर्तानिया का शाह बन जायगा। फ्रांस को मात देना और बात है, बर्तानिया से लोहा लेना बिलकुल और। चचा मरहूम का कौल याद आता है। ग़दर में वे सौ रुपये की शर्त जीते थे: एक रईस उनसे उलझ गये और बोले यह महीना ख़त्म होने से पेश्तर हिन्दुस्तान के सब अँग्रेज़ ठिकाने लगा दिये जायँगे। चचा ने

दुनिया देखी थी। कई साल वे निजाम और होल्कर की फौजों में रह चुके थे। उन्होंने रईसज़ादे से कहा कि आखिर में अँग्रेज़ हालत पर काबू पा लेंगे और बागियों को खत्म कर डालेंगे। १०० रु० शर्त ठहर गई। चचा को बात ठीक निकली। इन अँग्रेज़ों के खून में न जाने क्या है। पिटते हैं ये और हार होती है दूसरे की। सो किबला, मैं इस ख़याल का हूँ कि इस बार भी हिटलर ही मात खायेगा। मौलाना हमज़ा मुझ से मुत्तफ़िक नहीं और शर्त पर आ उतरे हैं।"

मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि मौ० हमज़ा बोल उठे: "जनाब आपको भाई जान ने फ़िज़ूल तकलीफ़ दी। जंग की बातें हम ज़रूर कर रहे थे, पर असल में सवाल तो शर्त का था। मुझे अपने घन्ने तीतर पर फ़ख़र है। मियाँ उस्मान को अपने चितले परिंद पर। हम दोनों शर्त लगाकर इन परिंदों को भिड़ाने ही जा रहे थे कि भाई जान हमें जंग की तरफ़ घसीट ले गये और इसरार किया कि अगर शर्त ही रखनी है तो किसी बड़ी बात पर रखी जाय........।"

मियां इस्माइल इस कथन की पुष्टि करते हुए बोले : "भाई जान बुज़ुर्ग हैं। इनका बुढ़ापा अब शर्त की ताब नहीं ला सकता। इसलिए आं जनाब न तीतरों को भिड़ने देते हैं न दुम्बों को। खुदा की क़सम मेरा दुम्बा भाई जान की बदौलत काहिल हो गया है। अच्छा, अभी ईद में दो महीने हैं। मुझे भी क़सम है अगर कम से कम दो भिडन्तों से पहले हलाल करने का नाम भी लूँ।"

तिराहा बैराम खां के रईसों और नबावज़ादों की बातचीत में बड़ा आनन्द आया पर मुझे देर हो रही थी, मैं आज्ञा लेकर उठ खड़ा हुआ।

जादू की नगरी

वे लोग अकसर मुझे सुबह फ़ीरोज़शाह कोटला और कभी-कभी शाम को लाल क़िले के सामने परेड के मैदान में गपबाज़ी या मुशाइरे में मस्त मिलते। चौपड़ या शतरंज की बाजी भी इनके साथ कई बार जमीं। मौलाना हमज़ा से मेरी विशेष मित्रता हो गयी। एक बार उनके यहां खाने पर भी गया था। तिराहा बैराम खां की एक तंग और गंदी-सी गली में हम गये। हमज़ा ने उङ्गली से अपने घर की ओर संकेत किया। टूटे हुए भद्दे दरवाज़े पर परदों या चिकों की बजाय फटी हुई बोरियों के टाट लटक रहे थे। मैं दिल में

घबरा रहा था कि ऐसी गंदी जगह कैसे कुछ खाने को जी चाहेगा।

टाट उठा कर हम लोग अन्दर एक बड़ी ड्योढ़ी में दाख़िल हुए। ड्योढ़ी से आगे बढ़ते ही जो दृश्य देखा उससे मुझे लगा मानो मैं किसी जादू की नगरी में पहुँच गया हूँ। मेरे सामने अंगूठी में जड़े पन्ने की भांति एक छोटा-सा हरा-भरा बाग़ था जिसके तीन तरफ़ सुन्दर दोमंज़िले मकान बने थे। मैं हमज़ा के पीछे-पीछे चलता गया। आख़िर एक बहुत ही सजे हुए सुन्दर कमरे में मुझे बिठा दिया गया। वहां चार और सज्जन मौजूद थे। उनकी ओर देखते हुए हमज़ा ने कहा, "आप हैं मेरे मोहतरिम हिन्दू दोस्त।" मैं आगे बढ़ा। एक एक करके चारों से हाथ मिलाया। हमज़ा परिचय कराते गये, "आप हैं शिफ़ा-उलमुल्क आला नव्वाज़ नवाब फरहत अली खाँ, देहली के बेहतरीन तबीबों में आपका शुमार है........आप हैं फ़ख़रे क़ौम सैयद रियासत अली, जिनके बुज़ुर्ग आलमगीर के बाद सल्तनते मुग़लिया के तीस साल तक वज़ीर रहे........हाजी इनायत बेग मेरे मेहरबान दोस्त, दिल्ली के बहुत बड़े सौदागर हैं........और आप हैं मिल्लत परवर शहज़ादा नेकबख्त खां, दिल्ली के शाही ख़ानदान से ताल्लुक रखते हैं और दौलते इंगलिशिया से वज़ीफ़ा पाते हैं।"...........

परिचय के बाद चमक-दमक वाले दस्तरखान पर हम लोगों ने पुरतकल्लुफ़ खाना खाया। खाते समय मौलाना हमज़ा एक-एक बर्तन और कमरे में पड़ी एक-एक चीज़ का इतिहास मुझे सुनाते रहे। मेरा ध्यान खाने की ओर अधिक था। इतना हो याद है कि शेरशाह सूरी से लेकर अंतिम मुग़ल बादशाह तक वे सबके नाम बार-बार लेते रहे।

कई रोज़ के बाद मौलाना हमज़ा और उनके साथियों से जामा मस्जिद के सामने मैदान में भेंट हो गयी। शतरंज की बाजी डट रही थी, मैं भी बैठ गया। कुछ देर बाद मैंने हमज़ा से पूछा, "क्या आप लोग दिन भर यही करते हैं। इससे आपका जी नहीं ऊबता?"

हमज़ा बोले, "जनाब दिल्ली में रहते हुए जिसका जी ऊब जाय वह सरहीन मौत का तालिब है। दिल्ली के अलावा कोई ऐसी जगह बताइये जो सौ साल तक दिल बहलाती रहे। दिल से इसे ख़ास लगाव है तभी तो दिल्ली कहलाती है। यहाँ इमारात, बाग़ात और सैरगाहें इतनी हैं कि तफ़रीह के लिये ज़िन्दगी भर बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। यहाँ २०० से ऊपर मिजार है। अगर इन्सान इनमें से एक चौथाई पर

भी ईमान लाये तो सैर-ओ-तफ़रीह का मसला ही हल हो गया। आप शायद आस-पास कम घूमे हैं। क्या बतायें हमारी फर्शी टमटम हाजी दाऊद फल वाले इस्तेमाल कर रहे हैं, नहीं तो आपको अपने साथ लेजा कर ये सब मिजार दिखलाता।"

गहरी रसिकता, जीवन से मोह, असाधारण शिष्टाचार, अलौकिक संतोष और दार्शनिक उदारता—ये गुण जितने दिल्ली के पुराने मुसलमानों में मैंने पाये, न लखनऊ में, न इलाहाबाद में और न हैदराबाद में दिखाई दिये। जीवन के उतार-चढ़ाव, पूर्वजों के कहानी किस्से, इस्लामी हकूमत के भग्नावशेष........मानों उन लोगों के लिए ये सब वरदान हैं। वे स्वीकार करते हैं कि उनका पतन हो चुका है। फिर भी उनमें हँसने और हँसाने की क्षमता है। कटुता उनके जीवन को छू तक नहीं पायी।

नई दिल्ली की जीवन-धारा

युद्ध छिड़ने से छः महीने पहले नई दिल्ली कितनी शान्त और स्वच्छ थी, इसकी कल्पनामात्र से ही आज सुख मिलता है। उन दिनों अत्यधिक भीड़भाड़ तो कहीं भी नहीं थी, पर नई दिल्ली में केवल भीड़ का अभाव ही नहीं अखरता था, सबसे अधिक मकानों और बंगलों की खेती अखरती थी। कनॉट प्लेस से डेढ़-दो मील तक किधर ही चले जाइये, सुन्दर बिजली की लालटेनें और उनके पीछे विशाल बंगले ही दिखाई देते थे। बहुत से बंगलों में शायद कोई रहता ही नहीं था—कम से कम वाह्य रूप से उनमें जीवन के लक्षण दिखाई नहीं देते थे। पी० डब्ल्यू० डी० के एक कर्मचारी से मुझे पता चला कि १९३७—३८ में उन्हें एक विशेष समस्या का सामना करना पड़ता था। और शहरों में तो लोग घर ढूंढते हैं, नई दिल्ली में सरकार ने इतने मकान बना दिये थे कि घरों के लिए आदमी ढूंढे जाते थे। सरकारी कर्मचारियों को कई तरह से प्रेरित और वाध्य तक किया जाता था कि वे सरकारी क्वार्टरों में रहें।

साउथ रोड, किचनर रोड, औरंगजेब रोड, आदि सड़कें तो इतनी सूनी रहती थीं कि वहाँ कोई मुझ जैसा सनकी ही आनन्द ले सकता था। मेरे मित्र कैलाशचन्द्र जो कटरा नील के वातावरण में पले हैं, इस सूनेपन को श्मशान की शान्ति कहा करते थे। किन्तु मेरे लिए वे १५ दिन, जब मैं औरंगजेब रोड पर गुप्त जी की कोठी में ठहरा, जीवन के १५ वर्षों से कम मूल्यवान् नहीं हैं। वह कोठी कालका-शिमला रोड पर स्थित किसी भी रेस्ट हाऊस से कम शान्त नहीं थी। उसकी निस्तब्धता, नीरवता और एकाकीपन से कभी-कभी मुझे ऐसा भ्रम होता था मानों किसी बड़े अस्पताल के स्पेशल वार्ड में पड़ा हूँ।

१६३६ में नई दिल्ली की जनसंख्या ४० हज़ार थी। यह नहीं भूलना चाहिए कि यह जनसंख्या सर्दियों के दिनों की थी। गर्मी के मौसम में तो २०,००० से कम ही रह जाती होगी। उन दिनों धान के खेत की तरह नई दिल्ली की बहार भी मौसमी होती थी। गर्मी में प्रायः सभी दफ्तर और कनॉट प्लेस के दुकानदार शिमले चले जाया करते थे। और तो और, कई स्कूल भी इस आवागमन में बाबू लोगों के साथ रहते थे।

नई दिल्ली का सबसे बड़ा गुण

नई दिल्ली का सबसे बड़ा गुण यहाँ की सफ़ाई था। क्या गलियाँ, क्या सड़कें, सभी तीर की तरह सीधी और स्लेट जैसी साफ़ सुथरी रहती थीं। मक्खी या मच्छर नाम की चीज़ यहाँ होती ही न थी। पुराने शहर के लोग अक्सर यह कहा करते थे कि नई दिल्ली में तो वह रहे जिसे मक्खी से भी वैर हो। बात बिल्कुल ठीक थी। यहाँ की म्यूनिसिपल कमेटी का सबसे महत्वपूर्ण काम सड़कों पर झाड़ू दिलाना और नालियों में मिट्टी का तेल छिड़कते रहना था।

बम्बई, कराची, मद्रास आदि किसी भी शहर से आने वाले लोग नई दिल्ली की स्वच्छता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। सर्व-सम्मति से इस उप-नगर का नाम हिन्दुस्तान की सबसे साफ़ और सुन्दर बस्ती पड़ गया था। नई दिल्ली में रहना या दुकान करना गौरव की बात समझी जाती थी। शायद इसी लिए कश्मीरी गेट उजड़ गया और वहाँ के सभी व्यापारी कनॉट प्लेस में आ जमे। पुरानी दिल्ली के कुछ धनी लोग भी यहाँ रहने लगे थे।

बाबू गढ़

यह सब होते हुए भी, नई दिल्ली मुख्यतः सरकारी कर्मचारियों की बस्ती थी, जो लोग वहाँ की आबादी का तीन-चौथाई भाग थे। शेष लोग आटे में नमक के बराबर थे। इसलिए नई दिल्ली का वातावरण असह्य रूप से दफ्तरी था। चाहे आप गोल मार्केट में किसी दुकानदार से कुछ खरीद रहे हों, या बेयर्ड रोड पर किसी दर्जी को सूट का नाप दे रहे हों, या कॉफी हाऊस में कॉफी पी रहे हों, या कनॉट प्लेस के किसी लान में चहल कदमी कर रहे हों, आप के कान में किसी न किसी कोने से दफ्तरी कार्रवाई की भनक ज़रूर पड़ेगी।

कोई अपने नये अफ़सर की बुराई कर रहा होगा, कोई पदोन्नति के साधनों के विवेचन में मस्त होगा और कोई अपनी छुट्टियों का हिसाब लगा रहा होगा। इसमें दोष बाबू लोगों का ही नहीं था, दुकानदार उन्हें स्वयं छेड़ बैठते थे। वे जानते थे, किसी भी बाबू से दफ्तर की बात करना दुकान पर बैठने के लिए उसे निमंत्रण देने का सबसे अच्छा तरीका है। गोल मार्केट के सभी कपड़े वाले, पुस्तक विक्रेता, अच्छे दर्जी आदि अपने सब गाहकों की दफ़्तरी स्थिति से अच्छी तरह परिचित रहते थे। इन ग्राहकों को गाँठने का, दफ्तर की गप-शप से बढ़ कर और उपाय ही क्या हो सकता था।

बाबू लोगों का जीवन बहुत संतोष और सुख का जीवन था। उन दिनों सभी कुछ सस्ता था। इन लोगों की साख भी कम नहीं थी, जो चाहें उधार ख़रीद लें। दुकानदार प्रायः उधार को नक़द से अच्छा समझते थे और पैसे माँगते सदा संकोच करते थे। मेरा अनुमान है कि संसार भर में उधार की इतनी सुविधायें किसी वर्ग को कभी नहीं प्राप्त हुई होंगी, जितनी उन दिनों नई दिल्ली में बाबू लोगों को प्राप्त थीं। दाढ़ी मुंडवाने से लेकर पत्नी के लिए बनारसी साड़ी ख़रीदने तक सभी व्यापार उधार पर चलता था।

एक छोटा सा क़िस्सा याद आ गया। मेरे गाँव के एक मुसलमान सज्जन श्री जमालुद्दीन किसी दफ्तर में असिस्टेंट थे। ठाठ से रहते थे। बच्चे अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ते थे। ख़ानसामा, आया, माली आदि रखे हुए थे। उन्होंने एक मोटर कार भी रख छोड़ी थी। एक दिन मेरे यहाँ खाना खाने आए। मैंने पूछा "हज़रत, आपका बहुत खर्च है, वेतन भी काफी होगा।"

बोले, "हाँ, अच्छी गुज़र हो रही है। वेतन २५० रु० है, ख़र्च तो इससे अधिक ही है, मगर कोई दिक्कत नहीं होती, क्योंकि १०० रुपया मासिक तक उधार आसानी से मिल जाता है।"

गोया मौलाना कर्ज को भी आमदनी का एक हिस्सा मानते थे। नई दिल्ली में ऐसे उदार लोगों की काफी संख्या थी।

राजनीतिक हलचल से नई दिल्ली बिल्कुल अलग रही है।

सरकारी गुमाश्तों का शहर

अगस्त १९४२ से पहले यहाँ शायद ही कभी सार्वजनिक या सरकारविरोधी प्रदर्शन हुए हों। मैंने एक बार कैलाश के

पिता जी से इस संबन्ध में आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा कि एक ऐसा शहर, जहाँ प्रायः सभी साक्षर हैं, कांग्रेस जैसे लोकप्रिय आन्दोलन से कैसे बिल्कुल अछूता रह सकता है। वे स्वयं कट्टर कांग्रेसी थे और दिल्ली की नस-नस से परिचित थे। कुछ मुस्करा कर बोले "बेटा, तुम्हें नई दिल्ली में रहते अभी साल भर ही हुआ है। मैंने इसे जन्म लेते और गुडलियाँ खेलते देखा है। इसे जो घुट्टी दी गई है, उसकी तासीर ही निराली है। देखो, नई दिल्ली केवल सरकारी अफसरों, बाबुओं और चपरासियों की बस्ती है। ये लोग दफ्तर की ही दुनिया में रहते हैं। बाहर की बात से इन्हें अधिक मतलब नहीं। शाम तक ये लोग दफ्तर से फारिग होते हैं, फिर अपने अपने वित्तानुसार सिनेमा, क्लब, संगीत, घूमना फिरना आदि मनोरंजनों का आश्रय लेते हैं। बस, दिन खत्म हुआ। संक्षेप में, नई दिल्ली ऐसा शहर है, जहाँ पब्लिक है ही नहीं। सभी सरकार के गुमाश्ते हैं। फिर किसी भी राजनीतिक हलचल का यहाँ क्या काम।"

बाबू जी की यह बात बिल्कुल सच्ची थी। किन्तु ज़माना बदल रहा था। युद्ध के तीसरे साल में नई दिल्ली भी करवटें ले रही थी। शिमले के शैल शिखर से उसका नाता टूट चुका था। सिक्रेटेरियेट में भीड़ हो चुकी थी। इस विशाल भवन के सभी कोने और आँगन कमरों में परिवर्तित कर दिये गये थे। कनाट प्लेस में भी जगह जगह नई इमारतें खड़ी की जा रही थीं। विदेशियों और हिन्दुस्तानी ठेकेदारों का नई दिल्ली बहुत बड़ा केन्द्र बन गई थी। पहले जैसी शान्ति और निस्तब्धता अब अतीत का गौरव मात्र थी। बाबू लोगों को उधार मिलना बन्द हो गया था। मक्खी मच्छर भी कहीं कहीं भिनभिनाने लगे थे। पुरानी दिल्ली, जो प्रायः कनॉट प्लेस से बहुत दूर पड़ती थी, अब दिन प्रतिदिन निकट आती जा रही थी। नई और पुरानी, ये दो विशेषण अब दो शहरों के नाम के सूचक मात्र थे, उनके गुणों के परिचायक नहीं रह गये थे।

बड़े लाट का दफ्तर

युद्ध के दिनों में अगर मुझसे कोई पूछता कि दिल्ली में कौनसी चीज सबसे अधिक दर्शनीय है तो मैं एकदम कह देता कि बड़े लाट का दफ़्तर अर्थात् सेक्रेटेरियट। इस दफ़्तर का महत्त्व तो सदा से ही बहुत रहा है, लड़ाई के दिनों में विशेषरूप से और भी बढ़ गया था और ऐसा मालूम होता था मानो मुसलमानों द्वारा बनवाई हुई इमारतें सेक्रेटेरियट की शाखाएँ मात्र हैं। क्या लाल किला, क्या पुराना किला और क्या छोटी-बड़ी दूसरी खाली इमारतें, ये सब की सब सेक्रेटेरियट की नाड़ियों के समान बन गई थीं।

परन्तु मैं उन लोगों में से हूँ जो लड़ाई से पहले भी बड़े लाट के दफ़्तर को दिल्ली की सब से महत्त्वपूर्ण इमारत मानते थे। सेक्रेटेरियट को बने अभी दस ही साल हुए थे। इसका नामकरण तो हो चुका था, पर कुछ लोग न जाने क्यों इसे अलग-अलग नामों से पुकारते थे। १९३९ में मैंने सेक्रेटेरियट के पहली बार दर्शन किये। जब मैं रेलगाड़ी से उतरा तो मुझे आश्चर्य हुआ कि सेक्रेटेरियट का अर्थ कोई ताँगेवाला भी नहीं समझता। वे लोग इसे बड़े लाट का दफ़्तर कहते थे। मज़दूर लोग और कुछ दिल्ली के पुराने आदमी इसे रायसीने का किला कहते थे।

मैं अपने मित्र कैलाश के यहाँ ठहरा था। एक रोज़ शाम को कैलाश के पिता, उनके दो मुनीम, कैलाश और मैं घूमते-फिरते नई दिल्ली आ निकले। मुनीमों के आग्रह पर हम लोग सेक्रेटेरियट आ गये। उन लोगों ने यह दफ़्तर पहले कभी नहीं देखा था। लोक सभा का गोल भवन और सेक्रेटेरियट की इमारत देखकर छोटेलाल मुनीम गदगद हो गये। सेक्रेटेरियट के चौक में खड़े होकर उन्होंने एक बार फिर नार्थ और साउथ ब्लाक पर दृष्टि डाली और कहा,

"अँग्रेजों ने तो मुग़लों को भी मात कर दिया। ४०-५० वर्ष बाद जब यह इमारत भी लाल किले और कुतुब की गति को प्राप्त होगी, तो निश्चय ही दिल्ली में दर्शकों के लिए यह आकर्षण नम्बर एक रहेगा। दूसरी ऐतिहासिक इमारतें इसके आगे पानी भरेंगी।"

छोटे लाल की बात पर सब को हँसी आ गई। परन्तु कैलाश के पिता जो स्वभाव से गंभीर थे झुंझलाकर बोले, "तुम बड़े मनहूस हो छोटे लाल। अभी दस साल हुए करोड़ों रुपये की लागत से यह इमारत बनी है। तुम अभी से इसे पुरातत्त्व विभाग के दृष्टि-कोण से देखने लगे हो।"

मुझे दिल्ली में कई सप्ताह रहना पड़ा और दो महीने बाद तो इस नगर से नाता ही जुड़ गया। सेक्रेटेरियट के वातावरण और इसमें काम करने वाले लोगों की दिनचर्या से मैं बहुत प्रभावित हुआ। शांति, 'स्निग्धता' और बाहरी सुख का साम्राज्य जैसा यहाँ था वैसा किसी वैरागियों के मठ में हो तो हो, और कहीं आसानी से देखने को नहीं मिलेगा। साफ़, विशाल सुन्दर सड़कों पर सवेरे दस बजे कुछ रौनक़ होती थी जिसे भीड़ नहीं कहा जा सकता। वास्तव में सभी ओर से सेक्रेटेरियट पहुँचने वाली सड़कें इतनी चौड़ी दिखाई देती थीं और उन पर चलने वाले आदमी इतने कम थे कि बरबस सड़क के बीच से होकर चलने को जी चाहता था। ११ बजे तक सरकारी कर्मचारी दफ़्तरों में आ जाते थे। काम बहुत कम था, यद्यपि युद्ध छिड़ जाने के कारण कुछ उथल-पुथल के लक्षण दिखाई देते थे।

१६४० के अन्त तक यह उथल-पुथल लोगों के दिलों में ही रही, सरकारी फाइलों पर प्रकट नहीं हुई। दिन के समय भी सेक्रेटेरि-यट सूना दिखाई देता था, क्योंकि इसके दोनों भवनों में कुल मिलाकर प्राय: दो हज़ार के लगभग आदमी काम करते थे, जबकि १६४५ में यह संख्या ६,००० से भी बढ़ गई थी। दोपहर के समय का दृश्य और भी आकर्षक था। अफ़सर लोग तो प्राय: खाना खाने के लिए घर जाते थे या अपने कमरे में ही 'लंच' करते थे। दूसरे निम्न अधिकारी बाहर हरी घास पर बैठ कर धूप सेंकते थे और अपने वित्तानुसार वहीं जेबों से निकालकर चिलगोजे या मूँगफली चबाते थे।

चार बजे चाय का समय हो जाता था। चार बजते ही प्रायः सभी कर्मचारी (अफ़सर यहाँ भी अपवाद हैं) विभिन्न जलपानगृहों में चले जाते थे। और साढ़े चार बजे दफ़्तर समाप्त होता था। कितनी सुन्दर दिनचर्य्या थी यह। लंच, चाय आदि के सहारे दिन बड़ा सुन्दर बीतता था।

आपसी वैमनस्य, ईर्ष्या या कलह का नाम तक कहीं सुनाई नहीं देता था। सभी लोग, क्लर्क और चपरासी तक भी, मानों संतोष की मूर्तियाँ थे। इसका एक कारण तो यह था कि पदोन्नति के अवसर उन दिनों बहुत कम थे। दफ़्तरों के विस्तार की बात ही अभी शुरु नहीं हुई थी। जो जहाँ था वहीं बने रहकर कार्य करने में सन्तुष्ट था। दूसरे, पदोन्नति के नियम उन दिनों बहुत दृढ़ थे। धाँधली की सम्भावना कम थी और अंधे के हाथ बटेर लगने का भय तो था ही नहीं।

उस काल के सरकारी कर्मचारियों की वेशभूषा विशेष उल्लेखनीय है। सभी लोग सूट पहनते थे, टाई लगाते थे और एक-से सजे सजाये दीख पड़ते थे। ख़ाली देखने से क्लर्क और अफ़सर में भेद करना बहुत कठिन था। यहाँ एक मित्र की बात याद आ गई। वे व्यापार विभाग में डिप्टी सेक्रेटरी थे। एक बार वे दो दिन दफ़्तर नहीं गये। मैं समझा बीमार हो गये होंगे, इसलिए शाम को उनके घर पहुँचा। पत्नी के साथ उन्हें बैडमीन्टन खेलते देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। खेल ख़त्म होने के बाद जब हम सब लोग बैठे तो मैंने दफ़्तर न पहुँचने का कारण पूछा, श्रीमान् बोले—"यार अजब मुसीबत है। हम लोग सालों पटना में रहे हैं, दिल्ली के जीवन से कम परिचित हैं। क्या बताऊँ जब से यहाँ आया हूँ, देखता हूँ कि मेरे दफ़्तर में सब से गन्दे कपड़े मेरे ही होते हैं। मैं अपने स्टैनों से परेशान हूँ। वह इतना चुस्त और ऐसा ठाठ का सूट पहन कर आता है कि हम दोनों को बातें करते हुए अगर कोई बाहर का आदमी देखे तो उसको अफ़सर समझेगा। इसीलिए पिछले हफ़्ते मैंने 'चीप जान' को दो सूटों का आर्डर दिया। ख़याल था कि कल तैयार होकर आ जायेंगे, मगर अभी-अभी उसने भेजे हैं। जो गरम कपड़े मेरे पास थे वे सब गन्दे हैं। इसीलिए दो दिन दफ़्तर नहीं जा सका।"

अपनी विशेष वेशभूषा के कारण ही सरकारी कर्मचारी दिल्ली के किसी कोने में घूम रहा हो फ़ौरन पहचाना जाता था। जैसे छुट्टी

पर गया हुआ फ़ौजी देहात में दूर से ही पहचान लिया जाता है, वैसे ही कनॉट प्लेस या चाँदनी चौक अथवा कश्मीरी गेट में भटकता हुआ बाबू तुरन्त ही दिखाई दे जाता था।

इस ठाठ और सम्पन्नता का एक और भी कारण था। सम्पूर्ण सेक्रेटेरियट गर्मियों में शिमले जाया करता था। खूब अच्छे भत्ते मिलते थे। दिल्ली में लोग वसंत के बाद ही शिमले की तैयारी में लग जाते थे और उधर शिमले में दसहरे के बाद ही दिल्ली के स्वप्न देखने लगते थे। वास्तव में देखा जाय तो यह निरन्तर आवागमन का वातावरण इस जीवन में किसी के लिये भी आदर्श है। कितने ही लोग अपना स्नेह और अनुरक्ति घर विशेष या नगर विशेष को दे बैठते हैं। यह झूठा मोह जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को दूषित कर देता है। सरकारी कर्मचारी की आत्मा इस बंधन से बिलकुल मुक्त थी। इसलिए वह प्रायः अपने आपको जनसाधारण से कुछ ऊँचा मानता था। परिव्राजक की तरह वह किसी सीमा तक भव-बंधनों से मुक्त था और समस्त दिल्ली और शिमले पर अपना अधिकार समझता था।

यह भावना १४ रु० मासिक पाने वाले चपरासियों तक में विद्यमान थी। आज चपरासियों को ८० रु० बहुत कम लगता है, परन्तु उन दिनों १४ रु० में भी वे बिल्कुल संतुष्ट थे। उनके भाई बन्धु जो गाँव में खेती-बाड़ी करते होंगे उनकी अपेक्षा निश्चय ही कम सम्पन्न और कहीं अधिक असन्तुष्ट थे। स्वर्गीय प्रोफेसर बृजनारायण जो भारतीय अर्थ-शास्त्रके विशेषज्ञ माने जाते थे, यह प्रायः कहा करते थे। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा भी है कि दस बीघा भूमि में दिन-रात जान खपाकर खेती द्वारा किसान जो प्राप्त करता है, दफ़्तर का चपरासी ६ घंटे साधारण काम करके उससे कहीं अधिक बना लेता है।

यह था १९३९-४० में बड़े लाट के दफ़्तर का वातावरण और वहाँ के कर्मचारियों का हाल। उस वातावरण की जब हम आज १९५० में कल्पना करते हैं तो उसे सतयुग का सम्बोधन दिये बिना नहीं रह सकते, अर्थशास्त्र के प्रकांड पंडित और सत्तारूढ़ मन्त्रीगण चाहे कुछ ही कहें।

अगस्त १९४२

उन्हीं दिनों जब सुदूरपूर्व में घटनाचक्र बहुत तेज़ी से चल रहा था और जापानी सेनाएं जंगल की आग की तरह मनमाने ढंग से चारों ओर फैलती जा रही थीं, दिल्ली ने एक नया करतब कर दिखाया। दिल्ली ने इतिहास में जितने विप्लव देखे हैं, यहाँ के लोगों का प्रायः उनमें एक ही काम रहा है.......वे सदा लुटते आये हैं। परम्परा से दिल्लीवासी शान्तिप्रिय और सत्तारूढ़ सरकार के भक्त माने जाते हैं। तैमूर, नादिर, चंगेज, सभी ने यहाँ से असीम दौलत लूटी और जी भर कर खून बहाया, किन्तु यहाँ के लोगों के आधारभूत जीवन-सिद्धान्त रत्ती भर भी नहीं बदले। इन सिद्धान्तों में थोड़ा बहुत संशोधन करने का श्रेय मौजूदा पीढ़ी को ही है।

क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद सारे देश में असंतोष और क्षोभ का वातावरण पैदा हो गया था। कांग्रेस और दूसरे राजनीतिक दल भी अंग्रेज़ शासकों से समझौते की आशा छोड़ चुके थे। राष्ट्र के सूत्रधार महात्मा गांधी की यही मांग थी कि अंग्रेज भारत से चले जायँ और हमें हमारे भाग्य पर छोड़ दें। यह आन्दोलन जोर पकड़ता गया। कांग्रेस आन्दोलन के ३० वर्षों में जनता में इतना असंतोष शायद ही पहले कभी पैदा हुआ हो।

अगस्त का महीना आया। ९ तारीख के पत्रों में महात्मा गांधी और देश के अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के समाचार सब ने पढ़े। बहुतों ने क्रोध से होंठ चबाये, पर आश्चर्य सभी को हुआ। दस बजे तक मैं अखबार का पहला पृष्ठ ही पढ़ता रहा। दूसरे समाचारों पर ध्यान ही नहीं गया, या उन्हें पढ़ने की इच्छा ही नहीं हुई। ग्यारह बजे मैं घर से निकला। कनॉट प्लेस पहुँचते ही मैंने देखा कि बहुत से लोग घरों और दुकानों की छतों पर चढ़े हुए कुछ देख रहे हैं। मैं भी एक मित्र के घर में घुसा और शिखर पर जा पहुँचा। वहाँ पहले ही

काफ़ी भीड़ जमा थी। सब लोग पुरानी दिल्ली की तरफ़ मुँह किये खड़े थे। उधर काले धुएं के भयावह बादल उठ रहे थे, जो आकाश में पहुँच कर सावन की घटाओं को भी मात कर रहे थे। यह सभी अनुमान लगा चुके थे कि यह धुआँ अग्निकांड का सूचक है। देखते ही देखते धुएं के तीन चार स्तम्भ और उठे। सभी दर्शक विस्मय में थे कि यह क्या हो रहा है। कुछ देर बाद ही खबर मिली कि टाउन हाल, पीली कोठी, रेलवे स्टेशन और कुछ अन्य इमारतों को किसी ने आग लगा दी है। धुएं के बादल बराबर ऊँचे उठ रहे थे।

इन दुर्घटनाओं की खबर सुनते ही अचानक कोई यह न कह सका कि इनके लिये कौन उत्तरदायी है, अथवा इनके पीछे कोई योजना भी है। कुछ समय के लिये ये अग्निकांड रहस्यमय बने रहे, किन्तु शाम तक इस रहस्य का उद्घाटन हो गया। देश के सभी भागों के अग्निकांडों और उपद्रवों की खबरें आने लगीं। सभी जान गये कि नेताओं की गिरफ्तारी से क्षुब्ध हुई जनता की यह प्रतिक्रिया है। दिल्ली भी इस प्रतिक्रिया से अछूती नहीं रही......यहाँ तक कि साहबों और बाबुओं की बस्ती नई दिल्ली भी जोश खा गई। कनॉट प्लेस में कई विदेशी व्यापारिक संस्थाओं पर लोगों ने पत्थर फेंके, शीशे तोड़-फोड़ दिये और जो कुछ हाथ आया उसे जला दिया गया। दो चार वारदातें मार-पीट की भी हुईं।

नौ अगस्त का दिन सनसनी से ओतप्रोत था। हर घड़ी शहर की और बाहर की खबरें आ रही थीं। इन में से बहुत-सी बिना सिर-पैर की अफ़वाहें भी थीं। एक सज्जन भागते हुए यह कहते जा रहे थे, "मिठाई का पुल तोड़ दिया गया है, रेलवे स्टेशन को गिरा दिया गया है, अब लाल क़िले की भी खैर नहीं।" बहुत से लोगों ने इस प्रकार की अफ़वाहों पर विश्वास कर लिया क्योंकि इनके निराकरण का साधन कोई था ही नहीं। घर से बाहर निकलना जोखिम का काम था। अखबारों में जो समाचार पढ़ने को मिलते थे, उनसे अफ़वाहों की पुष्टि होती थी। अखबार पढ़ने के बाद तो यदि कोई यह सुनता कि यमुना में भयंकर बाढ़ आई है और उसका बहाव भूमि काट कर नई दिल्ली की ओर कर दिया गया है, तो शायद इसे भी असम्भव या झूठ न समझा जाता।

११ अगस्त के समाचार के अनुसार वाइसराय की कार्यकारिणी के एक हिन्दुस्तानी सदस्य गुम हो गये थे। वे दौरे पर मद्रास गये हुए थे। नौ अगस्त को रेल द्वारा वहां से रवाना हुए। रास्ते में रेल रोक ली गई। कई मील आगे पीछे रेल की पटरी उखाड़ दी गई। दूसरे मुसाफिरों के साथ माननीय सदस्य भी जंगल में ही लटके रह गये। अगर यह घटना सच हो सकती है तो यमुना मैया को पार्लियामेंट स्ट्रीट में घुसने से कौन रोक सकता है, ऐसा लोगों का तर्क था।

दिल्ली प्रांतीय सरकार के कई दफतरों में आग लगी। इनकम-टैक्स कमिश्नर के कार्यालय के सभी कागजात राख कर दिये गये। अनेक सड़कों पर बिजली के खम्बे तोड़-मरोड़ दिये गये। नई दिल्ली के सरकारी क्षेत्रों में बड़ी घबराहट थी। दिल्ली का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था सभी बाजार बन्द रहने लगे। फल, सबजी, दूध आदि तो एक तरफ, आटा-दाल प्राप्त करने में भी कठिनाई होने लगी। फिर भी पारस्परिक सहयोग की भावना के कारण लोगों को विशेष कष्ट नहीं हुआ।

इन घटनाओं के दूसरे ही दिन सरकार का दमनचक्र शुरू हुआ। पकड़-धकड़ तो साधारण बात थी। जगह-जगह गोली कांड होने लगे। जहाँ कहीं भी आठ दस व्यक्ति दिखाई देते गोली चला दी जाती। दिल्ली में सभी जगह गोरी फौज तैनात कर दी गई। हिन्दुस्तानी सैनिकों पर निश्चय ही सरकार को पूरा भरोसा नहीं था। हाँ, गोरों के साथ कहीं हिन्दुस्तानी सिपाही दिखाई देते थे। दस दिन में कम से कम पचास बार गोली चलाई गई। सरकारी अनुमान के अनुसार २५ व्यक्ति मारे गये और ४०-५० घायल हुए। जहाँ तक मैं जानता हूँ ये आँकड़े बिल्कुल गलत हैं। २५ से कहीं अधिक व्यक्ति गोलियों का निशाना बने होंगे। उन दिनों बारह घंटे का कर्फ्यू लगा हुआ था। जो लोग कर्फ्यू आदेश का उल्लंघन करते थे उनमें से प्रायः आधे ही बच कर घर वापिस जा पाये होंगे, क्योंकि उन दिनों चेतावनी देने का रिवाज नहीं था। कम से कम गोरे तो गोली द्वारा ही चेतावनी देते थे। यह मैं अनुमान से नहीं कह रहा हूँ। इस सम्बन्ध में मुझे विशेष जानकारी प्राप्त हुई थी, जो इस प्रकार है.........

पंद्रह दिन से हमारा धोबी नहीं आया था। लगभग २०० कपड़े धुलाई के लिये गये हुए थे। मेरे पास पहनने को एक भी कपड़ा नहीं

रह गया था। २१ अगस्त के दिन मैं धोबी की तलाश में चूना मंडी, पहाड़गंज पहुँचा। थोड़ी-बहुत पूछताछ के बाद उसके घर का पता लग गया। दरवाजे पर पहुँचते ही मैंने मसीते को पुकारा। कुछ देर बाद एक बुढ़िया बाहर आई। जैसे ही मैंने मसीते के सम्बन्ध में पूछा वह आँखें पोंछने लगी। फिर कुछ संभल कर रुँधे गले से बोली, "मसीते को मरे तो आज हफ्ते से ऊपर हो गया है। साथ में रमज़ान भी था वह भी गया। और तो और जालिमों ने उस बैल को भी नहीं छोड़ा जिस पर कपड़े लदे थे।" बुढ़िया की करुण कहानी से मैं हिल उठा। बहुत सान्त्वना देने का प्रयत्न किया, पर वह आँसू बहाती ही रही। बात यह थी कि मसीता कहीं सवेरे पाँच बजे से पहले ही कपड़े बैल पर लाद घर से बाहर निकल पड़ा। उस बेचारे को कर्फ्यू का तो शायद पता हो पर समय का ठीक पता नहीं था। आकाश के तारे ही उसके लिये घड़ी का काम देते थे। अभी कर्फ्यू खतम होने में दस-पंद्रह मिनट बाकी थे। जैसे ही बैल झूमता हुआ नई दिल्ली के रेलवे स्टेशन के सामने आया मसीता अपने बेटे और बैल समेत गोली खाकर धराशायी हो गया।

ऐसी अवस्था में अपने कपड़ों की बात करना अनुचित था। अपना-सा मुँह लिये और शोक का भार उठाये मैं वापिस घर की ओर हो लिया। इसी तरह की कई घटनायें पहाड़गंज, चाँदनी चौक और दिल्ली के अन्य भागों में हुईं। लोगों का अनुमान था कि कम से कम १५० आदमी गोली से मारे गये।

दो सप्ताह तक दिल्ली में पूरा सन्नाटा रहा। कभी तो बात करते हुए भी डर लगता था। दर्जनों आदमी धावा करते-करते पकड़े गये थे। सरकार की भावना में प्रतिहिंसा की झलक थी। बिहार और बलिया का बदला वह दिल्ली में लेना चाहती थी। अँग्रेज़ हाकिमों ने आगा-पीछा कुछ नहीं देखा। जिस ने सिर उठाया उसी पर चोट की। देश के अनेक दैनिक और साप्ताहिक पत्र बन्द कर दिये गये। दिल्ली का प्रमुख अंग्रेजी दैनिक "हिन्दुस्तान टाईम्स" तथा कई हिन्दी दैनिक भी इसी लपेट में आ गये और कई महीनों तक बन्द रहे। सबसे बुरा हाल यातायात का रहा। रेलों को ग्रहण सा लग गया। समय पर चलना और पहुँचना प्रायः सभी प्रमुख गाड़ियों के लिये नियम के स्थान पर अपवाद बन गया। मेरे एक सम्बन्धी मुरादाबाद से दिल्ली तीसरे दिन

पहुँच पाये। वह भी अपनी हिम्मत के वल पर क्योंकि १२ मील के करीव वे पैदल चले।

ऐसी घटनायें दिल्ली के इतिहास में कभी नहीं घटी होंगी। जहाँ इस अव्यवस्था से अराजकता की आशंका होती थी, वहाँ थोड़ा सा सन्तोष भी होता था कि सदियों से ठोकरें खाने वाली और पाँव तले रौंदी जाने वाली दिल्ली आखिर सचेत तो हुई।

कर्फ़्यू की घड़ियां

जैसे-तैसे दूसरा विश्व युद्ध १९४५ में समाप्त हुआ। जर्मनी के साथ ही दो-तीन महीने के बाद जापान की बदिया भी बैठ गई। सरकार ने छः महीने पहले से विजय समारोह का ठाठदार कार्यक्रम बना रक्खा था। कागज़ी कारवाई सभी सरकारी दफ़्तरों में हो चुकी थी। पर जब लड़ाई वास्तव में ख़तम हुई तो लिखा हुआ कार्यक्रम सभी भूल गये। बस एक ही बात याद रह गई—दफ़्तरों और स्कूलों में एक दिन की छुट्टी मनाई गई। शायद किसी सार्वजनिक संस्था के पैसे के बल पर कहीं-कहीं यारों दोस्तों में मिठाई भी बांटी गई होगी। परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारत की साधारण जनता में युद्ध के परिणाम के प्रति पूर्ण उदासीनता थी यद्यपि किसी को जर्मनी या जापान से विशेष प्रेम नहीं था। युद्ध का सारा गोरख-धंधा हमारे लिये बनावटी था। इस के आधारभूत कारण बनावटी, प्रसार बनावटी, भारत का इसमें शामिल होना बनावटी और इसका अन्त भी बनावटी। तो फिर जन-साधारण की उदासीनता पर आश्चर्य क्यों हो।

भारत की दिलचस्पी अब इस बात में थी कि विजेता ब्रिटेन अब हमारे साथ कैसा व्यवहार करता है। लार्ड वेवल लंदन गये हुए थे, जहाँ भारत के भविष्य के सम्बन्ध में विचार-विनिमय हो रहा था। जून १९४५ के अन्तिम सप्ताह में वायसराय दिल्ली लौटे। आते ही उन्होंने कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया और शिमले में सब राजनीतिक दलों के नेताओं के सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन में खूब चहल-पहल रही, पर मुस्लिम लीग की हठ के कारण राजनीतिक गुत्थी बराबर उलझती ही गई। कांग्रेस की सौ दलीलों का जवाब मुस्लिम लीग के पास एक ही था......"पाकिस्तान।" सम्मेलन भंग हो गया। देश में तनातनी और बढ़ गई।

इधर ब्रिटेन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गंभीर परिवर्तन हो गया। जुलाई १९४५ में जो आम चुनाव हुए, उनमें अनुदार दल (कंजरवैटिव पार्टी) की करारी हार हुई और श्री एटली के नेतृत्व में लेवर पार्टी शासनारूढ़ हो गई। भारत ने इस परिवर्तन में आशा की झलक देखी, यद्यपि अनेक अनुभवी राजनीतिज्ञ सभी अँग्रेजों को एक सा मानते थे और चोर-चोर मौसेरे भाई की कहावत के कायल थे। एटली सरकार ने पद संभालते ही भारत के मामले में दिलचस्पी प्रकट की। शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद भी राजनीतिक बातचीत चलती रही।

एक दिन अचानक लंदन से यह घोषणा की गई कि निश्चित अवधि के बाद अँग्रेज भारत से चले जायेंगे और शासन-भार भारतीयों को ही सौंप दिये जायेंगे चाहे कांग्रेस-लीग समझौता हो या न हो। इस घोषणा ने भारत की सारी राजनीतिक स्थिति बदल डाली। सद्भावना के अनुयायी तो रचनात्मक ढंग पर भावी दायित्त्व को निभाने की बात सोचने लगे और अवसरवादी स्वार्थपूर्ति के लिये मौके की खोज में विचरने लगे।

अखबारों में अच्छी नोकझोंक रही। धुंआँधार वक्तव्यों और भाषणों की झड़ी-सी लग गई।

सहसा घटनाचक्र फिर बदला। अगस्त १९४६ में कलकत्ते के भीषण उपद्रवों के समाचार ने कनाट प्लेस और चाँदनी चौक दोनों को चौकन्ना कर दिया। ऐसा भयानक साम्प्रदायिक झगड़ा पहले कभी नहीं सुना गया था। एक सप्ताह में दस हजार से ऊपर लोग मारे गये।

कलकत्ते के उपद्रव की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। मानव मानों मानवता से ऊब उठा और कुछ समय के लिये पशु बन गया। सारा देश इन दुर्घटनाओं से काँप-सा उठा। न जाने अब किस प्रान्त की वारी आये, कहाँ सिर फुटव्वल हो जाये, सभी लोग यह सोचा करते थे। दिल्ली के लोग भी इस का अपवाद नहीं थे।

इन्हीं घटनाओं के कारण १९४५-४६ में दिल्ली के लोगों ने एक नवीन ऋतु देखी। अन्य ऋतुओं के विपरीत यह ऋतु पूरे एक वर्ष तक चली। यह थी कर्फ्यू की लानत। ऋतु परिवर्तन से हमारे रहन-सहन, भोजन, वेशभूषा आदि में इतनी उथल-पुथल नहीं होती जितनी

कर्फ्यू के कारण हुई। कोई छः महीने, नवम्बर १९४६ से अप्रैल १९४७ तक तो कर्फ्यू प्रायः दस या बारह घंटे का रहा, रात के छः या आठ बजे से प्रातः ६ बजे तक।

शुरू में कर्फ्यू बहुत खटका। एक तो दिल्ली पर वैसे ही भगवान् की दया है। चहल कदमी को छोड़ कर यहाँ औसत दर्जे के लोगों के लिए मनोरंजन का साधन ही कोई नहीं। कर्फ्यू ने चहल कदमी को भी अपराधों की सूची में दर्ज करा दिया। आँख बचा कर कुछ दिन तो मैं थोड़ा-बहुत कर्फ्यू के समय घूमा पर जल्दी ही मुझे अक्ल आ गई। पड़ौस के तीन-चार जवान पूसा रोड की ठंडी हवा खाते पकड़े गये थे। दो दिन हवालात में जो उनकी मिट्टी खराब हुई, उसका हाल सुनकर मैं जीवन में कभी भी हवाखोरी न करने की कसम खाने को तैयार हो गया।

धीरे-धीरे कर्फ्यू हम लोगों की नाड़ियों में समा गया। पाँच बजे सांयकाल को ही लोग रात समझने लगे। कहावतें और मुहावरे तक बदल गये। सूर्य को छिपता देख अब कोई यह न कहता कि दिन ढल रहा है, बल्कि यह कहता कि रात सिर पर आ गई है। दफ्तरों से पाँच बजे से ही पीछा छुड़ाने का अच्छा बहाना हाथ आया। ६ से पहले घर पहुँचना होता था।

पत्नियों के हर्ष का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। कहाँ तो बहुत सी गृहिणियों को खाना भी पति की राह देखते-देखते अकेले ही खाना पड़ता था, और कहाँ अब शाम को चाय भी पति-पत्नी प्रेमपूर्वक इकट्ठे पीने लगे। अनेक स्त्रियाँ कर्फ्यू को पूर्व जन्म के पुण्य का फल मानने लगी थीं। मेरी पत्नी तो आज तक कहती हैं, "कितने अच्छे थे वे दिन जब शाम को सारा परिवार एक साथ बैठ कर चाय पीता था। अब पाँच बजे से तुम्हारी राह देखने लगती हूँ। कभी समय पर नहीं आते। कूकू बेचारा तुम्हें याद करता-करता सो जाता है।"

कर्फ्यू की चर्चा हमारे घर में प्रायः होती है। श्रीमती जी कई बार पूछ चुकी हैं: "क्या हिन्दू-मुस्लिम दंगे के बिना कर्फ्यू लगाया ही नहीं जा सकता। यह तो अच्छा है कि अब हम स्वतंत्र हैं और आपसी झगड़े नहीं होते पर कर्फ्यू का पूर्ण अभाव मुझे खटकता है। मेरा बस चले तो मैं महीने में कम-से-कम एक सप्ताह तो दस घंटे का कर्फ्यू अनिवार्य रूप से लगा दूँ।"

मैं भी श्रीमती जी से सहमत हूँ। महीने में एक सप्ताह का कर्फ्यू मुझे भी मंजूर है। इससे और नहीं जीवन की नीरसता का एक तांता तो टूट जायगा। कभी-कभी लोग घरों की ओर दौड़ते तो दिखाई देंगे। आजकल तो जब देखो जहाँ देखो पतलून की जेबों में हाथ डाले सीटी बजाते हुए बहुत से लोग बेकार घूमते हुए दिखाई देते हैं।

कर्फ्यू की बात करते-करते मुझे दिसम्बर १६४६ की एक घटना याद आ गई। एक दिन शाम को चार बजे मेरे यहाँ कैलाश जी आ गये। दफ्तर की उस दिन छुट्टी थी। कैलाश के आग्रह पर हम दोनों एक मित्र से मिलने कनाट प्लेस चल दिये। सीधे शैलेन्द्र जी के घर पहुँचे। शैलेन्द्र बड़े तपाक से मिले। सब लोग बैठ कर बातें करने लगे। आध घंटा बातचीत करने के बाद कैलाश ने कहा "भाई शैलेन्द्र, कुछ और नहीं कम से कम चाय का तो बन्दोबस्त करो।"

शैलेन्द्र तुरन्त उठ कर अन्दर चले गये और चाय आदि बनवाने लगे। मैंने कैलाश को डांटा यह कितनी भद्दी बात है जबरदस्ती किसी से चाय पी रहे हो। मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती।

कैलाश खिलखिला कर हँस पड़े और बोले "शैलेन्द्र के यहाँ चाय नहीं पी जायेगी। आज जनाब बैल को दुहा जायेगा। यह हज़रत हमेशा मित्रों के दस्तरखान पर शेर रहते हैं। अपने यहाँ किसी को खिलाने का नाम ही नहीं लेते। आज देखो क्या होता है। चाय खतम होने तक छः बज चुकेंगे। हम यहीं डटे रहेंगे। इतने में कर्फ्यू का समय हो जायेगा। फिर तो हमें शैलेन्द्र से निःसंकोच भाव से खाने और रात को यहीं सोने के लिये कहना पड़ेगा। अब कल सवेरे घर चलेंगे। भाभी को फोन कर देंगे।"

हुआ भी यही। शैलेन्द्र की बुरी गत बनी। वे घड़ी की तरफ तो बार-बार देखते रहे, पर घर से चले जाने को हमें कैसे कहते। सात बजे कैलाश ने योजनानुसार चिल्लाना शुरू किया: "यह तो अनर्थ हो गया। कर्फ्यू में हम लोग अब कैसे जायेंगे। मुझ पर तो पिताजी बहुत बिगड़ेंगे। अच्छा, भाग्य की बात है और भाई शैलेन्द्र दाने-दाने पर मुहर होती है। आज हमें तुम्हारे यहाँ ही भोजन और विश्राम करना था। अब तो घर वालों के कल ही दर्शन होंगे।"

रात-भर वहीं विश्राम किया गया। शैलेन्द्र लीचड़ ज़रूर थे,

पर रसिक साहित्यिक भी थे। चाय और भोजन पर जो ख़र्च हुआ होगा उन्होंने उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया। आधी रात तक साहित्य चर्चा होती रही। अगले दिन सवेरे जब हम जाने लगे, शैलेन्द्र ने हमें एक सुन्दर कविता सुनाई। उसका शीर्षक था "कर्फ्यू की घड़ियाँ।"

एक अमरीकन से भेंट

एक दिन मुझे किसी आवश्यक काम से ठीक पांच बजे कनाट प्लेस पहुँचना था। दफ्तर में ही पौने पांच बज गये। बाईसिकल उठा मैं एक दम भागा। वहुत तेज़ी से जा रहा था। रीगल की तरफ़ से एक अमरीकन सिपाही हाथ में साइकल थामे धीरे-धीरे सिंधिया हाऊस की तरफ़ जा रहा था। दूर से मैं उस व्यक्ति को देख रहा था, पर न जाने क्या हुआ मैं ज़ोर से उसके साइकल से जा टकराया। उसके साइकल का पहिया ऐसे मुड़ गया जैसे रोटी मुड़ जाती है। अमरीकन बेचारा धक्का खा एक तरफ़ गिर पड़ा। मैं घबराकर तुरन्त ही साइकल से उतरा और सीधा अमरीकन की ओर लपका। उसे उठाया और पूछा—"क्या चोट तो नहीं लगी। मुझे बहुत दुःख है कि मेरी असावधानी के कारण यह दुर्घटना हुई।"

अमरीकन ने उठ कर कपड़े झाड़े और मेरी तरफ़ देखा, पर वह बोला कुछ नहीं। मैंने फिर कहा—"मुझे इस दुर्घटना का बहुत अफ़सोस है!" कुछ क्षण चुप रह कर अमरीकन ने अपनी साइकल की ओर देखा और फिर मुझ पर निगाह डाली और अंगूठे से साइकल की तरफ़ संकेत करते हुए बोला—"किन्तु उसका क्या होगा।" मैंने कहा—"साइकल की चिंता मत कीजिए। उसकी मैं मुरम्मत कराये देता हूँ। आपके तो चोट नहीं लगी, पहले मैं यह जानना चाहूँगा।"

दो मिनट चुप रहकर अमरीकन फिर बोला—"मुरम्मत कैसे होगी। पहिया तो 'डी' बना पड़ा है। इसे लेजाया कैसे जायगा।"

मैं समझ गया। मैंने पास से जाते हुए एक तांगे को रोका। उसमें टूटी हुई साइकल रखी और अमरीकन से बैठने को कहा। उसने

पल भर कुछ सोचा और फिर कहा—"नहीं, तांगे में आप बैठिये। मैं आपकी साइकल पर चलूँगा।"

मैं दिल में बहुत हँसा। जैसे ही मैं आगे की सीट पर बैठा, तांगा आगे बढ़ा। पीछे-पीछे मेरी साइकल पर मूंगफली चबाता हुआ अमरीकन साथ हो लिया। जो आवश्यक काम मुझे कनाट प्लेस लाया था, वह मैं बिल्कुल भूल चुका था। अब मुझे चिंता अमरीकन और उसकी साइकल की थी। मैं सारी घटना पर विचार करने लगा। अपने ऊपर जो क्रोध मुझे पहले आया था, वह अब शान्त हो चुका था। मैं अमरीकन की मनोवृति का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन कर रहा था। यह आदमी भी कैसा विचित्र है, मैंने दिल में सोचा। अपनी चोट आदि के सम्बन्ध में यह कुछ कहने को तैयार नहीं। केवल साइकल ही की चिंता में डूबा है। उस चिन्ता ने ही शायद इसे इतना व्यग्र कर दिया है कि यह किसी पर विश्वास करना नहीं चाहता। इसीलिये तो मेरी साइकल पर आप चढ़ा है और मुझे तांगे में बैठाया है।

ओडियन के पास पहुँचते ही मैंने तांगे को रोका और साथ वाली साइकल की दुकान से एक आदमी को बुलाया। उसने साइकल तांगे से उतारी और देख कर कहा ठीक हो जायगी पर कल मिल सकेगी। मैंने उसे समझाया कि मुरम्मत बढ़िया से बढ़िया हो। दाम चाहे जो लेना। ऐसा न हो कोई कसर रह जाय। अमरीकन की तरफ़ देखते हुए मैंने कहा—"लो सब ठीक हो गया। आपकी साइकल कल दो बजे मिल जायगी। सच बताइये आपके कहीं चोट तो नहीं लगी।" मूंगफली छीलते हुए अमरीकन थोड़ा मुस्कराया और बोला—"यदि आप बुरा न मानें, आपने इस दुकानदार से जो बात की है ज़रा उसका अंग्रेजी में अनुवाद तो कर दें ताकि मैं भी समझ लूँ।"

चोट की बात फिर नदारद। मैं बड़ा हैरान हुआ। ख़ैर, मैंने अमरीकन को सारी बात समझा दी। मुरम्मत के दाम ११ रुपये मैंने उसके हाथ पर रख दिये। अब वह संतुष्ट हो गया, और मेरी साइकल मुझे देते हुए बोला—"धन्यवाद, अब आप जा सकते हैं।"

"यह नहीं हो सकता," मैंने उत्तर दिया, "आपको घूमने-फिरने में असुविधा होगी। इसलिये कल तक मेरी साइकल आप ही रखें। मुझे अपना पता बता दीजिये, मैं आकर आपके यहाँ से अपनी साइकल बाद में ले लूँगा।"

अब अमरीकन कुछ पसीजता हुआ दिखाई दिया। एक घंटे की चुप्पी के बाद वह खिल-खिला कर हँसा और बोला—"आप बहुत शिष्ट और समझदार व्यक्ति जान पड़ते हैं। कहीं आपको मैं बहुत अधिक कष्ट तो नहीं दे रहा हूँ। मैं पार्लियामेंन्ट स्ट्रीट पर बैंगर्स फ्लैट में रहता हूँ। मेरे कमरे का नम्बर १५ है और मेरा नाम है हेनरी जे० हम्फ्रे। यदि आपको अवकाश हो तो आइये चले चलें, कुछ देर बैठेंगे। क्या कॉफ़ी का प्याला पीजियेगा।"

एक दुखद कांड का इतने सुख से अन्त होने की खुशी में मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। हम्फ्रे और मैं दोनों बैंगर्स फ्लैट की ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर हम्फ्रे ने अपने कमरे का ताला खोला और मुझे अन्दर बैठा कर आप बाहर खिसक गया। मैं समझा किसी से कॉफ़ी के लिये कहने गया है। पूरे दस मिनट बाद वह वापस आया। कुछ लंगड़ाता हुआ सा चल रहा था। उसके हाथ में एक छोटी शीशी थी जिसमें काले से रंग की दवाई थी और एक रूई का बंडल था। लज्जा के मारे मेरा मुँह लाल हो गया। एकदम सोफे से उठकर मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा और उसे आराम से सोफे पर बैठा दिया। वेदनापूर्ण स्वर में मैंने कहा—"मिस्टर हम्फ्रे, आपको काफ़ी चोट आई है। मेरे बार-बार पूछने पर भी आपने न जाने इस बारे में कुछ क्यों नहीं कहा। अब तो बताइये चोट कहाँ लगी है।"

अपनी दांई जांघ पर हाथ फेरते हुए हम्फ्रे ने कहा—"साधारण सी घसीट यहाँ आई है। मांस छिल गया। कुछ देर बाद टिंक्चर लगा कर सेक देने से ठीक हो जायगा। इसमें आपको बताने की क्या बात थी। उस समय सबसे बड़ा सवाल तो साइकल का था। दवा तो यहाँ डिस्पेंसरी से मिल ही जानी थी। साइकल तो मरम्मत करवाने से ही ठीक होती। इसीलिये मैं पहले साइकल की समस्या से निपट लेना चाहता था। चोट तो आप ही ठीक हो जायगी।"

एक-एक मुट्ठी मूंगफली खाने के बाद हमने गरम कॉफ़ी पी। हम्फ्रे ने मेरा परिचय मांगा। अब हम एक-दूसरे को जान गये थे। बहुत सी इधर-उधर की बातें हुईं। आठ बजे मैंने जाने की आज्ञा मांगी। हम्फ्रे मुझे सड़क पर छोड़ने आया। हाथ मिलाते समय वह बोला—"मिस्टर हेमन्त, क्या आप एक औसत हिन्दुस्तानी हैं, अर्थात्

क्या मैं यह समझूँ कि किसी भी साधारण हिन्दुस्तानी का ऐसा ही व्यवहार होगा जैसा आपका है।"

"यह तो बड़ा पेचीदा सवाल है," मैंने उसे टालते हुए कहा, "कभी फिर मिलेंगे तो इस सम्बन्ध में बात करेंगे।"

हम्फ्रे ने मेरे घर आने का वचन दिया। फिर हम जुदा हो गये।

यह घटना नवम्बर १६४३ की है। उन दिनों दस हजार से ऊपर अमरीकन दिल्ली में थे। शाम के समय जहाँ देखो यही लोग दिखाई देते थे। इन्हें सिवाय घूमने के और कोई काम भी नहीं था। रीगल, प्लाजा और ओडियन सिनेमा-घरों के सामने प्रति दिन ३०-४० अमरीकन खड़े होते थे। जो टिकट ले अन्दर चले जाते थे वे तो खुश होते ही होंगे, जो किसी कारण बाहर रह जाते थे वे भी कम खुश नहीं दिखाई देते थे। खाली समय में इन लोगों का प्रायः एक ही धन्धा होता था। वह था मूंगफली चबाना।

लड़ाई के दिनों में दिल्ली में जो असाधारण रौनक हो गई थी, (भगवान् दिल्ली को नजर से बचाये), अमरीकन लोगों का स्थान उसमें काफ़ी ऊँचा था। कुछ समय तो यहाँ के दुकानदारों, तांगेवालों, टैक्सीवालों, होटल वालों आदि-आदि के खूब गहरे रहे। चीजों के दाम उन दिनों वैसे ही ढलती-फिरती छांव की तरह थे, दुकानदार जो जी में आता, मांग बैठते थे। हम लोग तो सौदा करने के आदी हैं, शुरू में अमरीकन लोग नहीं थे। हम्फ्रे ने मुझे बताया कि जब वह मार्च के महीने में दिल्ली आया, उसने महीना भर बूटपालिश के लिये आठ आना प्रति दिन दिये और कई बार पान का बीड़ा चार आने का ख़रीदा। अनेक अमरीकनों की भांति हम्फ्रे को भी पान अच्छा लगता था। कभी-कभी तांगे वाले भी इन लोगों से खूब पैसे झाड़ते थे। परन्तु अमरीकन बहुत व्यवहार-कुशल होते हैं। उन्होंने अधिक दिन मार नहीं खाई। बाद में तो उन्होंने सभी चीजों के ठीक भाव का पता लगा लिया और यहाँ के नाप-तोल को खूब समझ लिया था।

हम्फ्रे के द्वारा मेरी कई और अमरीकनों से भेंट हुई। हम्फ्रे मेरे साथ दिल्ली में काफ़ी घूमा। एक बार मेरी साइकल कुछ खराब थी। हमारा विचार हुमायूँ का मकबरा देखने का था। जाना अवश्य था, इसलिये मैंने कहा कि तांगे से चलना ठीक होगा। हम्फ्रे ने सीटी बजाते

हुए "ओ-के" (स्वीकृति सूचक शब्द) कह दिया। दोनों तांगे में चल दिये। रास्ते में हम्फ्रे ने केले और सन्तरे ख़रीदे जो हम दोनों ने खाये। तांगे से उतरते ही कुछ मूंगफली खरीदी गई जिससे हम्फ्रे ने और मैंने अपनी-अपनी जेबें भर लीं। हम लोग दिन भर घूमें। हम्फ्रे ने, जो अमरीकी सेना में फोटोग्राफर था कई अच्छे चित्र लिये।

शाम को उसी तांगे में हम वापस आ गये। वैंगर्स फ्लैट में ही हमने कॉफी पी। जब मैं उठ कर चलने लगा, हम्फ्रे कोई भूली हुई बात याद करते हुए अचानक बोला—"अरे, हिसाब तो किया ही नहीं।" दो मिनट पेंसिल से कुछ लिख कर फिर बोला—"नौ रुपये, बारह आने। इसमें आपका हिस्सा है चार रुपये चौदह आने। यह आप मुझे दे दीजिए।"

मैं जानता हुआ भी इस कर्तव्य का पालन करना भूल गया था। तुरन्त पांच रुपये का नोट दे और दुअन्नी अपनी जेब में डाल, मैं हम्फ्रे से हाथ मिला कर घर वापस आ गया।

अमरीकन लोग हिसाब के पक्के होते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि वे मित्रता की भावना से शून्य होते हैं। उनका शिष्टाचार हमारे शिष्टाचार से कुछ भिन्न है। हिसाब-किताब के पक्के होते हुए भी वे लोग सच्चे मित्र ही नहीं बल्कि आतिथ्य कुशल भी होते हैं। हमारा शिष्टाचार अधिक कोमल है जो प्रायः गणित का भार नहीं सह सकता। निजी अनुभव से मेरा यह मत है कि शिष्टाचार में कोमलता का गुण अधिक लाभदायक नहीं। शिष्टाचार तो जितना दृढ़ बल्कि कठोर हो उतना ही अच्छा। गणित ही नहीं यदि हाथापाई का भार भी शिष्टाचार सह सके तो बुरा न होगा।

आज तीन वर्ष हो चुके हम्फ्रे की कोई खबर नहीं मिली। वह १९४५ में ही अपने नगर बोस्टन में वापस जा पहुँचा था। दो-चार पत्र भी उसके आये। प्रायः हम लोग घर पर उसकी चर्चा करते हैं। मैं तो हम्फ्रे को हज़ार प्रयत्न करने पर भी नहीं भूल पाता क्योंकि मुझे वह फोटोग्राफी की खर्चीली इल्लत लगा गया और मेरे बच्चों को च्यूइंग गम चूसने का चस्का।

"विद्रोही" नेता मंत्री पद पर

विद्रोही और देशभक्त—इन दो शब्दों का अर्थ एक ही है। अन्तर यदि है तो केवल देश और काल के कारण। वास्तव में विद्रोही और देश-भक्त एक ही चित्र के दो पहलू हैं। शायद ही कोई ऐसा देश-भक्त हो जो अपने जीवन में कई बार विद्रोही न समझा गया हो। ऐसा अभागा विद्रोही भी आसानी से नहीं मिलेगा जिसे कम-से-कम एक बार देश-भक्त कहलाने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ हो। सब से विचित्र बात यह है कि प्रत्येक विद्रोही देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होता है और हर देश-भक्त की दृढ़ता का मूलाधार विद्रोह की क्षमता होती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक तथा विचारक सी० इ० एम० जोड ने इन शब्दों की व्याख्या बहुत ही रोचक ढंग से की है। उनकी परिभाषा के अनुसार "देश-भक्त सफल विद्रोही है और विद्रोही असफल देश-भक्त"।

इस तथ्य में कितनी सच्चाई है और कितनी सुविधा से विद्रोही देश-भक्त में रूपान्तरिक्र हो सकता है, यह जादू-भरा खेल भी दिल्ली-वालों ने दिल भरकर देखा। पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ-भाई पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आज़ाद तथा अन्य प्रमुख कांग्रेस नेता जो सालों से विद्रोहियों की प्रथम श्रेणी में माने जाते थे और इसी कारण युद्ध छिड़ने के बाद से जेल के अन्दर अधिक और बाहर कम रहे थे, २ सितम्बर १९४६ को नई दिल्ली में वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य-पद की शपथ ग्रहण करने आये। इस देश के इतिहास में पहली बार पदाधिकारियों द्वारा शपथ-ग्रहण सार्वजनिक रुचि की वस्तु बनी। इससे पहले भी ऊंचे पद पर आसीन होने से पूर्व अधिकारी लोग शपथ लेते ही होंगे पर उस से जन साधारण का कोई वास्ता नहीं था। जब २ सितम्बर को कांग्रेस नेता शपथ-ग्रहण करने

वाइसराय़ भवन की ओर बढ़े तो सेक्रेटेरियेट की सड़कों पर हज़ारों आदमी उनके अभिनन्दन के लिए मौजूद थे।

वे सरकारी कर्मचारी जो सदा से आई० सी० एस० वर्ग के ही भक्त रहे हैं और जिन्होंने उनकी सेवा और चाकरी में ही जीवन की सार्थकता अनुभव की है, इस अनोखे दृश्य को देखकर भौचक्के से हुए। सारे ही सरकारी कर्मचारी एक से नहीं थे। इन में भी एक वर्ग ऐसा था जो आज़ादी के नाम पर फ़ाइलों और रंगबिरंगे काग़ज़ों को फेंक खुली हवा में "इंकलाब ज़िन्दाबाद" का नारा लगाने को सदा तैयार रहता था। इस वर्ग के अधिकांश लोग युद्ध की अपरा-दफ़री में भर्ती हुए थे। इस लिए वे जूनियर थे। इनके ऊपर जिन लोगों का अंकुश था वे थे मंजे हुए अफसर और सुपरिंटेंडेंट जो दफ्तरी जीवन की दौड़ में काफ़ी आगे निकल चुके थे और जो नौकरी के दांव पर ही अपनी सारी पूंजी लगा बैठे थे। ये लोग थे सीनियर, गम्भीर, स्वामीभक्त, स्थिरचित्त (अथवा अड़ियल) और परिवर्तन-विमुख। भारत सरकार की चाबी वास्तव में इन्हीं के हाथ में थी। जब नेता लोगों की मोटरें ऊंची सड़क पर से होकर वाइसराय भवन गईं, जूनियर वर्ग के लोगों ने नारे लगाने में स्वच्छन्द गले से जनता का साथ दिया। सीनियर वर्ग में से दो-चार बाहर निकले और चश्मे ऊपर माथे पर चढ़ा या नीचे नाक पर कर दूर से नेताओं को देखने मात्र से संतुष्ट हो गम्भीर मुद्रा में अपने-अपने कमरों में जा बैठे।

भारत के ५० वर्ष लम्बे स्वाधीनता संग्राम में यह घटना वास्तव में नवीन ही नहीं अभूतपूर्व थी। भला कहाँ तो ये लोग अपने भाषणों और वक्तव्यों में सरकार की कटु आलोचना किया करते थे और कहाँ अब ये स्वयं शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने जा रहे थे। इस से बड़ा परिवर्तन और क्या हो सकता था। राजनिति के गम्भीर और विवेकपूर्ण विद्यार्थी समझ गये कि ब्रिटेन में लेबर पार्टी (श्रम दल) के शासनारूढ़ होने का यह पहला परिणाम है। वायुमण्डल में इससे भी बड़े परिवर्तनों के लक्षण दिखाई देने लगे। स्वतंत्रता की गन्ध ने भारत के वातावरण को सुरभित कर दिया। मुस्लिम लीग की प्रतिगामी नीति के बावजूद लोगों को अब आभास होने लगा कि देश के क्षितिज पर स्वाधीनता का सूर्य उदय होने जा रहा है। युग करवट बदलता साफ़ दिखाई दे रहा था।

उसी दिन सायंकाल, शपथ-ग्रहण के बाद नये मंत्रियों ने पत्रकार सम्मेलन में भाषण दिये। उनकी ओर से उनके नेता, पं० जवाहरलाल ने हिन्दी में भाषण दिया। यह और भी निराली बात रही। सरकारी प्रेस कांफ्रेन्स में हिन्दी में बातचीत! बहुतों ने नाक-भौं सिकोड़ी, पर तेज़ी से घूमते हुए काल-चक्र को कौन रोक सकता था। भारतीय और विदेशी पत्रकारों ने उस रोज़ समझ लिया कि अंग्रेज और अंग्रेजी अब इस देश में अधिक दिन नहीं चलेंगे

राजधानी में सब ओर सनसनी थी, उल्लास था। राजनीतिक क्षेत्रों में असाधारण हलचल थी। यह बात नहीं कि मंत्री-पदों पर लोकप्रिय नेताओं की नियुक्ति मात्र से जनता सन्तुष्ट हो गई हो। जनता को नेताओं के विवेक और उनकी प्रखर बुद्धि पर पूर्ण विश्वास था। वह जानती थी कि सेक्रेटेरियेट में एक बार इनके घुसने की देर है, फिर शासन-यंत्र की काया ही पलट जायगी। यह विश्वास आखिर सच्चा निकला।

सरकारी क्षेत्रों में भी हलचल कम नहीं थी। जहाँ देखो इसी घटना की चर्चा हो रही थी। ऊपर से तो सब ही खुश दिखाई देते थे, पर अन्दर से शायद कुछ लोग शंकित थे। एक अधेड़ उम्र के अफ़सर से मेरी बात हुई। वे २३ वर्ष की नौकरी निभा चुके थे। लड़ाई के शुरु में ही अफ़सर हुए थे। काम में बड़े होशियार थे और ज़िम्मेदारी की भावना तो उन में कूट-कूट कर भरी थी। उनकी गम्भीर मुद्रा से कभी तो मुझे यह भ्रम होता था मानों सारी सेक्रेटेरियेट का भार उन्हीं के सिर पर हैं। जब मैंने नेताओं द्वारा पद-ग्रहण पर उन्हें बधाई दी तो वे कुछ चक्कर में पड़ गये कि इस बधाई का जवाब दें तो क्या दें। सिर खुजलाते हुए बोलेः "हाँ, भाई, ईश्वर ने देश की लाज तो रखी है। देखो ऊंट किस करवट बैठता है। ये लोग तो महीनों में ही क्रांति के बीज बो डालेंगे। अब अंग्रेज की खैर नहीं। क्या बतायें, मुसीबत हम जैसों की है। हमें अब शिकार बनाया जावेगा। इस साल राय साहब की उपाधि जो मिल गई है, यह और भी हमें डुबो कर रहेगी। हम जैसों का दोष कोई हो न हो, जी-हुजूरी के अपराध में ही हमें रगड़ा दिया जा सकता है।"

"अजी क्यों पागल हुए" मैंने मित्र-भाव से कहा, "भला इन लोगों को और कोई काम थोड़े ही है जो रगड़े की भूख मिटाने के लिए

ये आप जैसों की सूचियां बनाते फिरेंगे। हम और आप तो कोल्हू के बैल हैं जिन्हें चलने से मतलब, घानी में चाहे सरसों हो या मूंगफली या बादाम।"

मैं बात भी पूरी नहीं कर पाया था कि राय साहब खिसक गये। इसी प्रकार कुछ लोग जान-बूझ कर कल्पना पर दबाव डालकर भांति-भांति की आशंकाओं की भविष्यवाणी कर रहे थे। अत्यधिक स्वार्थ चिन्ता और संकीर्णता के कारण वे इस विशाल परिवर्तन के महत्त्व को समझने में असमर्थ थे।

अस्तु, इस परिवर्तन का प्रभाव कुछ सप्ताह में ही रंग लाया। सेक्रेटेरियेट का बाह्य रंगरूप और भीतरी विचारधारा कुछ बदलती सी दिखाई देने लगी। कर्मचारियों की वेशभूषा पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। मुझे याद है एक बार मेरे एक मित्र को अचकन पहन कर दफ्तर आने के कारण डांट सहनी पड़ी थी। अब लोग बेधड़क धोती कुर्ता पहन कर आने लगे। गांधी टोपियों की तो बाढ़ ही आ गई।

ये सब लक्षण मुझे शुभ दिखाई दिये। मैं ने सोचा और कुछ हो न हो, सरकारी कर्मचारियों को कोई चिकने घड़े तो नहीं कह सकेगा।

....स्वतन्त्रता अवतरण

दिल्ली ने अतीत में अनेक उत्सव, अनेक पर्व देखे हैं। प्राचीन काल में बड़े-बड़े चक्रवर्ती दिग्विजयी सम्राटों के राजतिलक यहाँ हुए। शत्रु को परास्त कर कई राजाओं ने दिल्ली में प्रवेश किया और यहाँ की जनता ने उनका भव्य स्वागत किया। ऐसे अवसरों पर दिल्ली ने अपूर्व उल्लास तथा विलास की घड़ियाँ देखी होंगी—ऐसी घड़ियाँ जिनमें सूर्योदय और सूर्यास्त का अन्तर मिट जाता है और अस्थाई रूप से मानव देश काल के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। लेकिन अतीत के वे सभी महोत्सव उस महान पर्व के आगे फीके पड़ गये, जो दिल्ली के लोगों ने १४ अगस्त १९४७ की रात को देखा।

उस रात दिल्ली में स्वतन्त्रता का अवतरण हुआ। ठीक आधी रात के समय जिस क्षण १५ अगस्त के दिन ने जन्म लिया लाखों नर-नारियों को ऐसा आभास हुआ मानो गंगा की तरह स्वर्ग से स्वतन्त्रता धरती पर उतर रही हो। भू पर उर्वशी का अवतरण भी ऐसे ही हुआ होगा।

धारासभा भवन में खड़ा उस समय मैं सोचने लगा कि भविष्य में कोई कवि स्वतन्त्रतावतरण शीर्षक से कविता अवश्य लिखेगा। गंगा अवतरण अथवा उर्वशी के कल्पित प्रादुर्भाव पर यदि संस्कृत और हिन्दी के कवि कविता-स्रोत बहा सकते हैं तो स्वतंत्रावतरण पर तो निश्चय ही अनेक खंड काव्यों की रचना होगी। मैं सोचने लगा कि भावी कवि की विचारधारा क्या होगी। जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकरने अपने खंड काव्य में और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "गंगा की शोभा" में हिमगिरि से जिस प्रकार गंगावतरण का वर्णन किया है, उसी प्रकार भावी कवि भी उपमाओं और रूपकों के सहारे स्वतंत्रता के उद्गम स्थान का चित्र खींचना चाहेगा। भारतेन्दु का काम तो महाभारत और अन्य उपाख्यानों

में वर्णित घटनाओं के कारण सहल था। उन्होंने निम्न पंक्तियों में प्रचलित धारणाओं का ही तो चित्रण किया............

श्री हरि पद नख चन्द्रकान्त मनि द्रवित सुधारस,
ब्रह्म कमंडल मंडन भव खंडन सुर सरबस,
शिव सिर मालती भाल, भागीरथ नृपति पुन्य फल,
ऐरावत गज गिरिपति हिमनग कंठहार कल॥

किंतु स्वतन्त्रता का उद्‍गम तो कवि को अपनी सूझ के आधार पर ही चित्रित करना होगा। उसे कदाचित् विष्णु के पदनख के स्थान पर स्वतन्त्रता का उद्‍गम महात्मा गांधी के मस्तिष्क से जोड़ना होगा। चित्र को पूरा करने के लिए उसे जवाहरलाल, पटेल, राजेन्द्र बाबू, राजगोपालाचार्य तथा अनेक दिवंगत आत्माओं का आश्रय लेना पड़ेगा।

यह विचारधारा अधिक देर तक न चल सकी। पीछे से ऐसे जोर का रेला आया कि हजारों व्यक्ति एक-दूसरे के ऊपर गिर पड़े। धारासभा भवन में ही नहीं, उसके बाहर हरी घास पर, सड़कों पर, सेक्रेटेरियट के सामने विशाल मैदान में तिल रखने की भी कहीं जगह दिखाई न देती थी। ऐसी भीड़ तो लोगों ने प्रायः देखी होगी, पर आधी रात को किसी भी स्थान पर किसी समय दो तीन लाख आदमी इकट्ठे न हुए होंगे। हाँ, इस कथन का एक अपवाद हो सकता है। महाभारत काल में वृन्दावन में कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर शायद इतने नर-नारी बांकेविहारी के दर्शनार्थ जुट जाते हों। श्री कृष्ण का जन्म भी ठीक उसी समय हुआ था, जब तीन वर्ष हुए भारत भू पर स्वतन्त्रता अवतरित हुई।

उस रात को "जन गण मन" और "वंदेमातरम्" के राष्ट्रीय गीतों की मधुर ध्वनि कैसी स्वर्गीय-सी जान पड़ती थी। ये गीत पहले भी अनेकों बार सुने थे, किन्तु उस रात तो एक-एक शब्द मानो पुकार-पुकार कर अपना अर्थ भी श्रोताओं के कानों में कह रहा था। उस रात वास्तव में शस्यश्यामला, बहुबल धारिणी, रिपुदल वारिणी आदि विशेषणों के ठीक अर्थ समझ में आये। जब "जन गण मन" आरम्भ हुआ तो उसकी ललित लय में हजारों सिर हिल उठे। किन्तु जैसे ही राष्ट्र गान में पंजाब और सिंध का उल्लेख हुआ एकत्रित भीड़ में सैकड़ों

आदमियों ने सिर उठा कर एक-दूसरे की ओर देखा। स्वतन्त्रता देवी की आराधना अचानक भंग हो गई। सहसा उपस्थित जनों को देश के विभाजन की याद आ गई। कई आँखें गीली हो गईं, कई रोष से लाल दिखाई देने लगीं। स्वतन्त्रतावतरण के हर्षोल्लास में लोग बह-से गये थे, सिंध और पंजाब के नाम सुनते ही स्मृति जागृत हो उठी और देश ने स्वतन्त्रता का जो मूल्य चुकाना स्वीकार किया था उसकी याद हरी हो गई। उस उल्लास की वेला में बहुतों नें टीस का अनुभव किया।

एक क्षण के लिये "वन्देमातरम्" और "जन गण मन" की ध्वनि युद्ध गान के समान प्रतीत हुई। नाड़ियों में रक्त वेग से दौड़ने लगा। विह्वल जनता ने नेतागण की ओर देखा। प्रायः सभी नेता विचारमग्न दिखाई दिये। जो वाण जनता के हृदय में चुभा था उससे नेता भी अछूते नहीं रहे थे। वे जनता से भी अधिक व्याकुल जान पड़ते थे, क्योंकि उन्होंने स्वाधीनता संग्राम में जनसाधारण का नेतृत्व ही नहीं किया था, बल्कि अनेक बार अखंड भारत की सौगन्ध भी खाई थी और एक स्वर से विभाजन की सम्भावना को मिथ्या बताया था। वे मानो विधि की विडम्बना पर आश्चर्य कर रहे थे कि पूर्व-आश्वासनों के बावजूद भी उन्हें स्वयं विभाजन के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने पड़े।

लगभग दो बजे स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू धारासभा से निकल कर वायसराय भवन की ओर गवर्नर-जनरल को आमन्त्रित करने गये। स्वतन्त्रता के उत्साह में भीड़ भी उनके पीछे-पीछे हो ली। खाली स्थान था ही नहीं और जन-समूह इतना बड़ा था कि यह पता लगाना असम्भव था कि लोग किधर जा रहे हैं। कुछ देर बाद प्रधान मंत्री गवर्नर-जनरल को साथ ले धारा-सभा भवन में आ गये। उस समय लोगों का जोश चरम-सीमा को पहुँच चुका था। नेताओं के अभिनन्दन में बराबर नारे लगाये जा रहे थे। उस समय सभी कुछ नवीन और अपूर्व दिखाई देता था—अपूर्व समारोह, अपूर्व दृश्य, अपूर्व उत्साह, अपूर्व देशभक्ति और अपूर्व जनसमूह।

तीन बजे तक शपथ-ग्रहण आदि के बाद समारोह समाप्त हो गया। कुछ लोग घरों को वापस हो लिये, बहुत से हरे लानों और फुटपाथों पर सो रहे।

अगले दिन अर्थात् १५ अगस्त को आठ बजे पं० जवाहरलाल नेहरू ने लाल क़िले पर यूनियन जैक की जगह भारत का तिरंगा झण्डा फहराया। दिल्ली हज़ारों साल का पुराना नगर है। अपने इतिहास में उसने एक स्थान में इतना विशाल जनसमूह निश्चय ही कभी नहीं देखा होगा, जितना उस दिन लाल क़िले के आस-पास आ जुटा था। स्थानीय पत्रों तथा सरकारी अनुमानों के अनुसार वहाँ दस लाख से कम आदमी नहीं थे। दिल्ली गेट से लेकर कश्मीरी गेट तक और जामा मस्जिद से लाल क़िले तक कहीं सड़क या भूमि दिखाई नहीं देती थी। सिवाय एक अपार जनसमुदाय के और कुछ नहीं था। इस भीड़ को विसर्जित होने में चार घंटे लगे। सभी सड़कें प्रायः एक बजे दोपहर तक भीड़ से खचाखच भरी रहीं।

स्वतन्त्रता जन्म ले चुकी थी। शताब्दियों बाद भारत स्वाधीन हुआ था। प्रत्येक नर-नारी हृदय में नई-नई आशाएँ लिये मस्त हो विचर रहे थे। अधिकांश लोग १५ अगस्त को रामराज्य की स्थापना का दिवस समझ रहे थे। वे समझते थे कि अब ऐसे युग का श्रीगणेश हुआ है, जब सभी समस्यायें, विषमताएँ, दुःख, क्लेश आदि आप-ही-आप दूर हो जायँगे। शायद इसी लिये वे उस दिन हर्ष के मारे फूले नहीं समाते थे। क्या वे भ्रम में थे? क्या उनका स्वाधीनता-प्रेम भ्रमपूर्ण था? क्या वे अत्यधिक आशावादी होने के दोषी थे? इन प्रश्नों का उत्तर विगत तीन वर्षों की घटनाएँ ही दे सकती हैं।

एक बवंडर

जिस समय दिल्ली स्वतंत्रतावतरण के हर्षोल्लास में डूबी हुई थी, ठीक उसी समय पश्चिमी पंजाब की राजधानी में भारत के नागरिकों पर मुसीबत के काले बादल उमड़ रहे थे। दस अगस्त से जिस आयोजित अत्याचार का सूत्रपात हुआ उसने पश्चिमी पंजाब के लाहौर जैसे नगरों में सभी गैर-मुस्लिमों का जीना हराम कर दिया था। हिन्दुओं और सिखों के लिये एक-एक पल भारी हो रहा था। वे अपने आप को शत्रु द्वारा घिरे हुए दुर्ग के सैनिकों के समान समझने लगे थे। उनके लिये प्रत्येक दिन अग्नि-परीक्षा और प्रत्येक रात प्रलय के बराबर थी।

लाहौर के भाग्य का निपटारा हो चुका था। अब वहाँ से निकल कर अमृतसर तक पहुँचने की समस्या थी। तेरह और चौदह अगस्त को मार-काट, अग्निकांड और तोड़-फोड़ की जो लोमहर्षक घटनाएँ हुईं, उनकी खबर तक यथा-समय दिल्ली नहीं पहुँच सकी थी।

करोड़ों रुपये की चल और अचल सम्पत्ति छोड़ और जान को हथेली पर रख लाखों व्यक्ति भारत की नई सीमा की ओर बढ़ रहे थे। इस दुःखद अभियान के विस्तृत समाचार पहली बार अमृतसर से १६ अगस्त को दिल्ली में प्राप्त हुए। स्वतंत्रता का हर्षोल्लास आन की आन में रोष में परिवर्तित हो गया। अगले ही दिन प्रधान मंत्री लाहौर पहुँचे, किन्तु खेल खतम हो चुका था। अगस्त के पहले सप्ताह में उन्होंने लाहौर वासियों को वहीं डटे रहने का आदेश दिया था। उस उपदेश को दोहराना अब व्यर्थ ही नहीं, उपहासास्पद था। इसलिये सारा जोर अब पश्चिमी पंजाब से हिन्दुओं तथा सिक्खों की निकासी पर लगाना ठीक समझा गया। लाहौर के दर्जनों बैंक, बीमा

कम्पनियाँ, शिक्षा संस्थाएँ, प्रतिष्ठित समाचारपत्र, छापेखाने और गैर सरकारी संगठन लाहौर से निकल कर दिल्ली ही में समा सकते थे। इन संस्थाओं में काम करने वाले हज़ारों कर्मचारियों के परिवार जैसे-तैसे भारत की राजधानी में पहुँचे। ३१ अगस्त तक लाहौर तथा उसके आस-पास से प्रायः दो लाख से ऊपर शरणार्थी दिल्ली आ चुके थे। स्थानीय लोगों ने उनका स्वागत किया और यथाशक्ति उनकी सेवा की।

दिल्ली की पुन्यभूमि कितनी ही शान्तिप्रद या सद्भावना-प्रेरक होती, फिर भी दो लाख बे-घर-बार, क्षुब्ध और क्षतिग्रस्त लोगों के भार से बिल्कुल न झुकना इसके लिये कैसे सम्भव था। निर्दोष पीड़ितों की करुण कहानी और उनकी असह्य वेदनाओं ने दिल्ली के हृदय पर चोट की। वातावरण दूषित होने लगा। अधिकारियों ने स्थिति को संभालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु प्रतिशोध की ज्वाला भड़कती ही गई। वास्तव में यह भावना पशुबल से ही अनुप्राणित नहीं होती थी। इसके आर्थिक कारण भी थे। लाखों हिन्दू और सिक्ख जो दिल्ली में रह कर ही जीवन-निर्वाह कर सकते थे आख़िर कहाँ जाते? सरकार स्वयं बेवस थी और उसके वायदों में सार ढूंढ़ना रेत से सोना निकालने की अपेक्षा अधिक युक्ति-संगत नहीं था। सरकार इन अभागे लोगों की सहायता के लिए कुछ भी उठा रखना नहीं चाहती थी। प्रधान मंत्री से लेकर दूसरे सरकारी कर्मचारी सभी शरणार्थियों के प्रति अपनी सहानुभूति को कार्यरूप देने के लिए व्यग्र थे। किन्तु यह काम इतना वड़ा था कि लाखों नागरिकों द्वारा दी गई सहायता और सरकार की उदारता इसके सामने अपर्याप्त ही दिखाई देती। पूर्णरूप से निर्दोष होते हुए भी सरकार की आलोचना स्वाभाविक बात थी।

अनेक कारणों से तनातनी इतनी बढ़ गई कि भयंकर उपद्रव की भविष्यवाणी करने के लिये ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं था। आँखों से देखने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति आगामी विस्फोट के लक्षण वायुमंडल में साफ़-साफ़ देख सकता था। हज़ारों की संख्या में शरणार्थी रेलवे स्टेशन पर पड़े थे। मुसाफ़िरख़ाने और प्लेटफार्म पर ही उनका अधिकार रह गया था।

आख़िर ५ सितम्बर को साम्प्रदायिक आग भड़क उठी। करौल बाग़ में कुछ सन्नाटा था, किन्तु लोग पहले की तरह अपने काम में लगे थे। कोई ८ बजे के क़रीब दौड़-भाग और मार-धाड़ का शोर सुनाई दिया। मैं दफ्तर जाने के लिये तैयार हो रहा था। नहा-धोकर कपड़े पहन बस के अड्डे की तरफ़ चल दिया। अभी गुरुद्वारा रोड पर नहीं पहुँचा था कि दूर से लोगों की कई टोलियाँ आती दिखाई दीं। इतने में दो-चार बाबू और मिल गये। एक आदमी भागा हुआ हमारे पास आया और बोला—"दिल्ली में भयानक दंगा हो गया है, सब बसें ख़ाली वापस चली गई हैं। अगर आप कुशल चाहते हैं तो अपने घर वापस चले जायें।"

आत्मरक्षा की भावना प्रबल होती है। कुछ देर वादविवाद के बाद हम सब अज्ञात पुरुष का परामर्श शिरोधार्य कर अपने-अपने घरों को लौट गये। दोपहर के समय टैलीफ़ोन करने पर पता चला कि करौल बाग़, सब्जी मंडी, पहाड़ गंज और एक-दो और बस्तियों में भीषण दंगा हो रहा है। मुसलमानों के पास काफ़ी हथियार और गोला बारुद था। कई जगह डट कर युद्ध हुआ। अधिकतर मुसलमान भी बेचारे उतने ही निर्दोष थे जितने पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी। उस उत्तेजना के समय दोषी-निर्दोषी का भेद-भाव शायद ही किसी ने किया हो।

उपद्रव बराबर फैलता गया और सड़कों तथा गली-कूचों में नागरिकों के स्थान पर सभी जगह पुलिस या सैनिक दिखाई देने लगे। धीरे-धीरे सरकारी कर्मचारी दफ्तरों को भूल गये, यहाँ तक कि कुछ दिनों के लिये सेक्रेटेरियट को नियमित रूप से बन्द करना ही उचित समझा गया।

सबसे भयंकर दंगा ८ सितम्बर को नई दिल्ली में हुआ। सरकार की चहेती और बाबू लोगों की बस्ती नई दिल्ली अपनी कोमलता के लिये प्रसिद्ध थी। इसमें कभी पहले साम्प्रदायिक उपद्रव नहीं हुआ था। और तो और, इसे कभी कर्फ्यू की आँच तक न लगी थी। किन्तु आठ सितम्बर को जो बवंडर उठा उसने कनाटप्लेस, गोल मार्केट, बाबररोड, लोधीरोड बस्ती, सभी क्षेत्रों को झकझोर दिया। दर्जनों दुकानें और घर दिन-दहाड़े लूट लिये गये। मार-पीट की ओर

उपद्रवियों का ध्यान इतना नहीं था, जितना लूट-खसोट की ओर।

इस घटना का पता लगते ही पं० जवाहरलाल स्वयं कनाट प्लेस पहुँचे और हाथ में बैंत लिये बलवइयों का पीछा करने लगे।

दो घंटे में ही दंगा दबा दिया गया, परन्तु अनेक दुकानें लुट चुकी थीं। जूतों, घड़ियों, भांति-भांति के बक्सों, और बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर दुकानों के आगे लगे पड़े थे। जो जिसके हाथ लगा, उठा ले भागा। सैनिकों को दो बार गोली चलानी पड़ी जिससे दस आदमी हताहत हुए।

पंद्रह दिन तक दिल्ली में अव्यवस्था रही। नागरिक जीवन एकदम अस्तव्यस्त हो गया। हवाई जहाज़ को छोड़ कर यातायात के और सभी साधन अनियमित और संकटग्रस्त थे। डाकखाने तक हड़ताल कर बैठे। कम-से-कम करौल बाग़ की बात तो मैं जानता ही हूँ। दो सप्ताह तक यहाँ के डाकखाने में चिट्ठियाँ आती ही रहीं, बाँटी नहीं गईं। लोगों को कुछ दिन बाद सूचित किया गया कि अपने-अपने पत्र डाकखाने में जाकर छाँट लें। मैं भी डाकघर पहुँचा। वहाँ का दृश्य देखकर बड़ी हँसी आई। कोने में एक तरफ़ पोस्ट कार्डों का ढेर, और दूसरी तरफ़ लिफ़ाफ़ों का अम्बार लगा था। अनाज मंडी में जैसे चना, गेहूँ बिकता है, ठीक उसी प्रकार चिट्ठियाँ पड़ी थीं। दूसरे लोगों के साथ कुछ देर तक मैंने भी ढेर में हाथ मारे, पर शीघ्र ही अक्ल आ गई। मैंने सोचा चिट्ठियाँ अगर नहीं मिलेंगी तो क्या ग़ज़ब हो जायगा। कौन नहीं जानता है दिल्ली में क्या-कुछ हो रहा है। इन घटनाओं के सामने पत्र मिलने या न मिलने अथवा कोई घर में कुशल से है या अस्पताल में बीमार पड़ा है, यह जानने का महत्त्व ही क्या है? अपने दिल को इस प्रकार समझा मैंने घर की राह ली।

हमें हरी सब्जी खाये हुए और दूध के दर्शन किये हुए दस दिन हो चुके थे। डिब्बा-बन्द तरकारियाँ और डिब्बा-बंद दूध इन्हीं से काम चल रहा था। ये डिब्बे भी ख़तम हो गये। दूध की समस्या जटिल थी। घर में कई बच्चे थे। मैंने नौकर को दूध की खोज में भेजा। तीन घंटे तक जब वह वापस न आया तब हम सब ने बिना दूध की ही चाय पी डाली। शाम के चार बजे शिवसिंह लौटा। उसके एक हाथ में गड़वा था और दूसरे में बकरी का कान। दूध तो कहीं

से मिला नहीं, भलामानस कहीं से घूमती-फिरती बकरी ही पकड़ लाया। नाराज होते हुए भी हम लोगों ने नौकर और बकरी का स्वागत किया। बच्चों के मजे हो गये। जब चाहते ताजा दूध माँग बैठते।

हरी तरकारी हमें सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में नसीब हुई।

दो सनसनीपूर्ण महीने

सितम्बर १९४७ के उपद्रवों ने दिल्ली के वायुमंडल को ही बदल डाला। स्वतंत्र भारत की राजधानी होने के नाते इस नगर का महत्त्व और भी बढ़ गया था। बहुत-से देशों के राजदूत और अन्य प्रतिनिधि यहाँ रहने लगे थे। राजधानी में इस प्रकार का दंगा हो, यह बात किसी भी देशभक्त को अच्छी नहीं लगी होगी। परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बलवान और असाधारण थीं कि किसीका वस नहीं चलता था। यह दलील कि हमारे भाइयों के साथ पाकिस्तान भी इसी प्रकार का व्यवहार कर रहा है, यहाँ के समझदार लोगों को जँचती नहीं थी। पाकिस्तान और भारत में अन्तर भी तो आकाश-पाताल का था। एक देश के अस्तित्व का आधार ही साम्प्रदायिक था और दूसरा डंके की चोट अपने आपको धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र कह रहा था। भेद सरल होते हुए भी आसानी से समझ में आने वाला नहीं था। प्रतिशोध की भावना और "शठे शाठ्यं समाचरेत्" का सरल उपदेश मानव के रक्त में समाया हुआ है।

बलवा शुरू होने के एक सप्ताह बाद ही गांधीजी दिल्ली आ गये। उनकी विचारधारा ने यहाँ के वातावरण को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से प्रभावित किया। उनका विरोध भी खुल्लम-खुल्ला बहुत हुआ। प्रायः प्रतिदिन प्रार्थना-सभा में उपस्थित लोगों में से कोई-न-कोई शंका के रूप में गांधीजी के कार्यक्रम पर आपत्ति उठाता था। यथासंभव बापू इन शंकाओं का समाधान करते। परन्तु सरकारी प्रयत्नों के बावजूद भी हवा कुछ सहिष्णुता के प्रतिकूल थी। एक औसत शिक्षित व्यक्ति के क्या विचार थे इसका अनुमान दिल्ली के एक पत्र की टिप्पणी से लग सकता है। राजधानी में उपद्रवों और शरणार्थी समस्या की चर्चा करते हुए उक्त पत्र ने लिखा......

"जिस समय दिल्ली नववधू के वेष में चिरवांछित, चिरपूजित प्रियतम से अठखेलियाँ कर रही थी, ठीक उसी समय देश के उत्तर-पश्चिमी भागों में भारत की लाखों बहू-वेटियों का सुहाग लुट रहा था। जिस समय पं० नेहरू लाल किले पर झंडा फहरा रहे थे और सुभाष बोस को श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे, उसी समय अमृतसर रेलवे स्टेशन पर खून से लथपथ एक गाड़ी आई थी जिसमें एक-तिहाई यात्री ऐसे थे जो जीवन की अन्तिम यात्रा समाप्त कर चुके थे। बहुत से ऐसे थे जो लौकिक और अलौकिक यात्रा के बीच में लटक रहे थे। इन लोगों का क्या दोष था? इन्होंने कौन-सा अपराध किया था? अपराध केवल यह था कि ये गैर-मुस्लिम थे। हमारे नेताओं ने हजारों बार दिये गए आश्वासनों के विरुद्ध पाकिस्तान बनाना स्वीकार किया। उस निर्णय की भीषण प्रतिक्रिया पाकिस्तान के निर्दोष हिन्दुओं और सिखों को सहनी पड़ी।

"अभी-अभी एक महीना हुआ हमारे नेतागण लाहौर में इन लोगों को वहीं डटे रहने का सत्परामर्श देकर आये थे। क्या नेताओं पर विश्वास करने का अनुयायियों को यह दंड मिलना चाहिये? जो होना था सो हो गया अब हमारा नैतिक कर्त्तव्य है कि हम पीड़ितों की पूर्णरूप से सहायता करें और जो हानि उन्हें उठानी पड़ी है उसकी शतप्रतिशत क्षतिपूर्ति करें।"

इस युक्ति का सरकार के पास कोई जवाब नहीं था। अधिकारी लोगों ने बराबर वायदे करते जाने में ही खैर समझी। ऊबे हुए पीड़ितों और उनके विक्षुब्ध समर्थकों का कहना था कि यदि हमने स्थानीय मुसलमानों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझा, यह कानून की दृष्टि में भले ही अपराध हो, किन्तु इसे किसी भी प्रकार अस्वाभाविक या अप्रत्याशित घटना नहीं कहा जा सकता।

इसके ठीक विपरीत गांधीजी की विचारधारा थी। उनका आदर्श निस्सन्देह बहुत ऊँचा था। बापू का कहना था कि भारत सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने का फैसला कर चुका है। शरणार्थियों से हमारी पूरी सहानुभूति है। हमें इनकी सहायता में कुछ भी उठा रखना नहीं चाहिये। परन्तु यहाँ के निर्दोष मुसलमानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान भेजना या ऐसा करने के लिये उन्हें बाध्य करना शरणार्थियों की सहायता करने का ठीक तरीका नहीं है। यह

तो अदूरदर्शिता है, संकीर्णता है और प्रतिशोध की अन्धी भावना है। वापू को विश्वास था कि यदि भारत के लोग यहाँ के मुसलमानों से सद्व्यवहार करेंगे और उन्हें अपने साथ रखेंगे तो पाकिस्तान को बाध्य होकर एक दिन अपने निर्वासित प्रजाजनों को फिर से पाकिस्तान में वसाना पड़ेगा।

वापू का कटु-से-कटु आलोचक भी आज यह स्वीकार करता है कि शरणार्थी-समस्या का सर्वोत्तम हल वास्तव में वही था जो गांधीजी प्रार्थना-सभाओं में वताया करते थे। उनमें और उनके आलोचकों में अन्तर केवल काल का था। वापू सत्य के अनुयायी होने के अतिरिक्त दूरदर्शी थे और इस समस्या का दीर्घकालीन हल सोचते थे। उधर उनके आलोचक भावुक होने के कारण तात्कालिक न्याय की मांग करते थे। पीड़ितों के हित की दृष्टि से कौन-सा मार्ग अधिक लाभप्रद था यह बहुत-से लोग अब समझ गये हैं। रहे-सहे लोग भी शीघ्र ही जान जायँगे।

पाँच लाख के करीब शरणार्थियों के दिल्ली में आ जाने से और सितम्बर के उपद्रवों के कारण, अक्तूबर और नवम्बर के महीने बहुत ही सनसनीपूर्ण हो गये थे। राजधानी में शासन-सम्बन्धी अव्यवस्था चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। प्रायः दो लाख मुसलमान आत्मरक्षा के लिये पुराने किले और हुमायूँ के मकबरे में चले गये थे। यहाँ अधिकारियों ने उनके लिये कैम्प खोल दिये थे, जहाँ उनकी रक्षा, भोजन और पाकिस्तान जाने के लिये गाड़ी आदि का प्रवन्ध किया गया था। जो घर दिल्ली में खाली हुए थे उन्हें हथियाने के लिये लाखों शरणार्थी उत्सुक थे। खूब आपाधापी मची। जो तगड़ा था उसके गहरे हो गये और शान्तिप्रिय तथा कानून-भीरु लोग इधर-उधर भटकते रह गये। मकान थोड़े थे और बे-घरवार लोग बहुत अधिक। इन घरों का अलाटमेंट (निर्धारण) सरकार के वस का काम नहीं था। मुसलमानों के घर भर जाने के बाद भी लाखों आदमी सड़कों पर, धर्मशालाओं में, सरायों में, रेलवे स्टेशन पर, मित्र और बन्धुओं के यहाँ पड़े थे।

सरकार ने फाटक हबशखाँ में कुछ मुसलमानों के खाली मकानों को ताला लगा दिया था और शरणार्थियों को उनमें घुसने से बलपूर्वक रोक दिया था। असंतोष की तो खेती दिल्ली में हो ही रही थी, इस घटना ने शरणार्थियों को और भी हताश कर दिया। अक्तूबर के

अन्तिम सप्ताह में फाटक हवशखाँ के मकानों पर हमले होने लगे। कुछ मकानों में शरणार्थी जबरदस्ती घुस गये। पुलिस से मुठभेड़ और आपसी संघर्ष प्रतिदिन की घटनाएँ बन गईं। मुसलमानों को गांधीजी के सिवाय और कोई रक्षक दिखाई नहीं देता था। उन्होंने बापू से दाद-फरियाद की। बापू को निश्चय हो गया कि मुसलमानों के प्रति हमारी सद्भावना का यही ठोस प्रमाण हो सकता है कि कुछ खाली मकान सरकार पाकिस्तान से लौटने वाले मुसलमानों के लिये सुरक्षित रक्खे। गांधीजी के हृदय में शरणार्थियों के लिये भी असीम स्थान था। वे इन घटनाओं का दायित्व पीड़ितों की अपेक्षा सरकार पर अधिक रखते थे।

परिस्थितियों से असंतुष्ट हो महात्मा गांधी ने १३ जनवरी को आमरण अनशन की घोषणा कर दी। उनका उद्देश्य उपर्युक्त मुसलमानों के घरों को खाली कराना और शरणार्थियों के लिये अन्य मकानों की व्यवस्था करना था। गांधीजी के कठोर व्रत से सरकारी क्षेत्र घबरा गये। अब सभी का ध्यान शरणार्थी-समस्या की ओर आकृष्ट होने लगा। शरणार्थियों के नेताओं ने भी सद्‌बुद्धि का परिचय दिया और सरकार को इस गुत्थी के सुलझाने में उनसे पूर्ण सहयोग मिला।

गांधीजी का जीवन सभी को प्रिय था। सभी दलों को उन्हें संतुष्ट कर उनका अनशन तुड़वाने की आकांक्षा थी। इस प्रयास में तीन दल शामिल थे—शरणार्थी, स्थानीय मुसलमान और सरकार। तीनों ने समस्या को सुलझाने का हृदय से प्रयत्न किया। शरणार्थियों और मुसलमानों ने जैसी प्रतिज्ञा की थी उसके अनुसार कार्य किया। सरकार ने कुछ ही सप्ताहों में सारे शरणार्थियों को घरों में बसाने का वायदा किया। इन प्रयत्नों में आशा की झलक दिखाई दी और छः दिन बाद गांधीजी ने अनशन तोड़ दिया।

आज शरणार्थी कहते हैं कि जहाँ हमने अपने वचन का पालन किया वहाँ सरकार अपने वचनों का पालन कुछ सप्ताह में तो क्या तीन साल में भी नहीं कर पाई है। आज भी दिल्ली में हज़ारों शरणार्थी परिवार बे-घरबार हैं। गांधीजी इस स्थिति को कभी भी सहन न करते। यदि वे इस अगस्त १९५० में जीवित होते तो इन शरणार्थियों को वर्षा से बचाने के लिये खुले स्थानों से घरों में न ले जाया जाता, बल्कि घर इनके पास लाये गये होते।

अस्ताचल पर दो सूर्य

विगत १० वर्षों में दिल्ली में जितनी भी विप्लवकारी घटनाएँ घटी हैं, जितने भी कल्पनातीत परिवर्तन हुए हैं, उनमें सबसे चिरस्मरणीय घटना (वास्तव में यह भयानक दुर्घटना थी) ३० जनवरी १६४८ की मानी जायगी। उस दिन सांयकाल को भारतवासियों ने, विशेषकर दिल्ली में रहनेवालों ने, अस्ताचल पर दो सूर्य अस्त होते देखे। एक सूर्य तो वह था जो आदि काल से सृष्टि को प्रकाश और जीवन प्रेरणा देता आया है। दूसरा सूर्य भारत के राजनीतिक आकाश का सूर्य महात्मा गांधी था। दोनों ही सूर्य ३० जनवरी की शाम को करीब साढ़े पांच बजे अस्त हो गये। प्रकृति का सूर्य तो सदा की भाँति अगले दिन फिर उदय हुआ, किन्तु भारत का सूर्य उस दिन सदा के लिये अस्ताचल के दूसरी ओर चला गया।

दिल्ली के लोगों को इस हृदयविदारक घटना की सूचना रेडियो द्वारा छः बजे मिल गई थी। सूचना सुनते ही सारी दिल्ली शोकसागर में डूब गई। नर-नारी घरों से निकल बिरला भवन की ओर उमड़ पड़े। नगर के सभी सिनेमाघर, सभी क्लब और मनोरंजन के दूसरे स्थान बन्द कर दिये गए। छोटे-बड़े सभी होटल और जलपान-गृह तुरन्त खाली हो गये। अखिल भारतीय रेडियो का साधारण कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। ११ बजे तक गांधीजी के जीवन, उनके आदर्श और उनके अन्तिम आदेश, इन्हीं के सम्बन्ध में रेडियो भाषण और कविताएँ प्रसारित करता रहा।

बिरला भवन को जानेवाली सभी सड़कों पर खचाखच भीड़ थी। सात बजे तक बिरला भवन के सामने हज़ारों लोग इकट्ठे हो गये। भीड़ शोकातुर थी, सभी लोग खामोश थे, जैसे सबके होठों पर ताले लगे हुए हों। पं० जवाहरलाल, सरदार पटेल तथा अन्य मंत्री व नेता-

गए बिरला भवन के अन्दर शोकाकुल विरही की तरह डोलते दिखाई देते थे। किसीको कुछ सूझ नहीं रहा था। क्या मंत्री और क्या नेता और क्या तुच्छ-से-तुच्छ नागरिक, सभी की कल्पना और बुद्धि इस आकस्मिक घटना से मानो कुंठित हो गई थी। भीड़ में कभी-कभी हत्यारे की चर्चा होती थी। कोई कहता कि हत्यारा जरूर कोई सिर-फिरा शरणार्थी होगा। पास ही खड़ा दूसरा व्यक्ति बोल उठा कि यह काम सिवाय किसी उन्मत्त संघी के और कोई नहीं कर सकता। कुछ लोगों का यह भी मत था कि बापू की हत्या भारत माता के शरीर पर किसी मुस्लिम लीग के अनुयायी का अन्तिम प्रहार है।

इस प्रकार एक-दो घंटे बराबर कानाफूसी होती रही। वातावरण की निस्तब्धता और शोकसूचक नीरवता पर बातचीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हृदय की वेदना के कारण सभी के गले रुँधे हुए थे। कोई भी ऊँचे स्वर में नहीं बोल सकता था। जो भी कुछ कहता, पास खड़े व्यक्ति के कान में ही कहता।

प्रधान मन्त्री पं० नेहरू और सरदार पटेल के बार-बार कहने पर भी जनसमूह नौ बजे रात तक अलबूकर्क रोड पर ही जुटा रहा। किसीको सर्दी की चिन्ता न थी और न इस बात की फिक्र कि घर कैसे लौटा जायगा। सामान्यतः दिल्ली में यातायात की व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि एक बार घर से निकल पड़ने पर कोई ज्योतिषी ही बता सकता है कि वह घर कब वापस आ सकेगा। अलबूकर्क रोड पर तो साठ हजार से ऊपर नर-नारी जमा थे। नौ बजे के करीब बिजली के प्रकाश में बिरला भवन के ऊपर से महात्मा गांधी के चिरनिद्रालीन मुख के रोते-बिलखते जनसमूह को दर्शन कराये गए। श्रद्धापूर्वक मस्तक झुका लोग अपने-अपने घरों को वापस हो लिये।

अगले दिन का कार्यक्रम रेडियो पर घोषित किया जा चुका था। यद्यपि दिवंगत महान् आत्मा के शव की अन्तिम यात्रा एक बजे आरंभ होनी थी लोग नौ बजे से ही बिरला भवन के सामने इकट्ठे होने शुरू हो गये। दिल्ली ही नहीं देश के सभी सरकारी और गैर-सरकारी कार्यालय तथा शिक्षा और व्यापार-सम्बन्धी सब संस्थाएँ उस दिन बंद थीं।

मैं अपने घर से १० बजे निकला। सड़कों पर अथाह भीड़ थी।

बसों की व्यवस्था न होने के कारण मैंने बिरला भवन तक पैदल ही जाने का इरादा किया। झंडेवाले के पीछे ईदगाह के सामने कुछ आदमी खड़े थे। वहाँ पांच-छः बूढ़े दाढ़ी वाले मुसलमान बच्चों की तरह रो रहे थे। उनमें से एक अपने साथियों से कह रहा था—"चलो, हम भी बिरला भवन चलें, किसीको मारना होगा तो हमें मार डाले, अब जीने की ख्वाहिश बाक़ी नहीं। पिछले चार महीनों में जो कुछ हुआ वह हम सह गये थे, अब जिन्दगी दुश्वार हो गई है। जिस हस्ती ने हमारे लिए जान की बाजी लगाई थी और जिसकी हक़ीकी हमदर्दी ने हमें हयात बख्शी, जब वही हस्ती इस दुनिया से उठ गई तब मरने-जीने की क्या अहमियत और दोनों हालतों में क्या फ़र्क।"

बूढ़े मुसलमान के दिल से निकले हुए ये शब्द दिल्लीवासियों की समझ में सहज ही आ जायेंगे। सितम्बर १६४७ के उपद्रवों के बाद नई दिल्ली में किसी मुसलमान का देखा जाना एक असाधारण दृश्य बन गया था। बापू की कृपा से दिल्ली में तब भी एक लाख से अधिक मुसलमान होंगे, परन्तु वे प्रायः अपने मुहल्लों में ही रहते थे। इन मुहल्लों से बाहर निकलना वे अब भी अपने लिये खतरनाक समझते थे। इसीलिये वह बूढ़ा मुसलमान नई दिल्ली से होकर बिरला भवन जाने के प्रस्ताव से इतना शंकित था। किन्तु ३० जनवरी की घटना ने सबके दिल बदल दिये थे। बीसियों हिन्दू और सिक्ख उन सब मुसलमानों को अपनी शरण में बिरला भवन ले जाने को तैयार हो गये।

मन-ही-मन में कुछ सोचता मैं भी उस दल के पीछे-पीछे हो लिया।

अर्थी का जुलूम बिरला भवन से यथासमय चला। आध घंटे तक जुलूस चलता ही रहा किन्तु बापू की अर्थी अभी भी अलबूकर्क रोड पर ही थी। भीड़ इतनी अधिक थी कि दूर से देखनेवाले को सारा जनसमूह स्थिर ही दिखाई देता था। रास्ते में, विशेष रूप से इंडिया गेट के सामने विशाल सड़क पर मार्ग के दोनों ओर लाखों शोकातुर नर-नारी बापू के अंतिम दर्शनों के लिये अश्रुपूर्ण आँखें गड़ाये खड़े थे। जुलूस में हजारों मुसलमान भी शामिल थे। इनमें से ६० प्रतिशत ने नई दिल्ली पाँच महीनों के बाद देखी होगी। जामिया मिलिया के अध्यापक और छात्र, अहरार, जमीयतुल उलमा के प्रतिनिधि

तथा अन्य मुसलमान महीनों बाद उस दिन पहली बार स्वच्छन्द रूप से अपने गैर-मुस्लिम भाइयों के आँसुओं में आँसू मिला रहे थे। इन लोगों को देखकर ईदगाह के बूढ़े मुसलमानों को निश्चय ही संतोष हुआ होगा।

लोग जुलूस में विभिन्न प्रान्तों के मंत्रियों और गवर्नरों को देखकर चकित थे। ये लोग उसी दिन बापू के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने हवाई जहाज द्वारा दिल्ली आ पहुँचे थे। जैसे ही जुलूस दिल्ली गेट के पास पहुँचा दरियागंज की ओर से हजारों व्यक्ति इसमें शामिल हो गये। ये लोग गाजियाबाद, मेरठ, हापुड़, मुरादाबाद और आस-पास के शहरों और गाँवों से आये थे। दर्शनार्थियों की सुविधा के लिये रेलवे को उस दिन एक दर्जन के लगभग स्पेशल गाड़ियाँ चलानी पड़ी थीं।

धीरे-धीरे जुलूस आगे बढ़ता गया और पाँच बजे राजघाट जा पहुँचा। एकत्रित भीड़ की संख्या आठ और दस लाख के बीच में थी। इस भीड़ में मैंने दो व्यक्तियों को देखा और उनसे मिलने के लिये मैं उनकी ओर लपका। ये थे मेरे पुराने मित्र मियाँ इफतिखारुद्दीन और श्री मंजूर कादिर। ये दोनों सज्जन उसी दिन लाहौर से आये थे। मियाँ इफ़तिखारुद्दीन जिनका गांधीजी से बहुत पुराना सम्पर्क था, बहुत व्याकुल और हताश जान पड़ते थे। वे बोले—"गांधीजी के साथ ही प्रकाश की अंतिम किरण भी लुप्त हो गई। अब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का खुदा ही मालिक है।"

पाकिस्तान की राजनीति के सम्बन्ध में मैं मियाँ साहब से कुछ बातें करना चाहता था, किन्तु समय की प्रतिकूलता के कारण मुझे उस लोभ का संवरण करना पड़ा। फिर भी पाकिस्तान के जन-साधारण की प्रतिक्रिया का हलका-सा अनुमान मियां साहब के साथ दो मिनट बात करने से ही हो गया। गांधीजी के प्रति ऐसी प्रबल अपनेपन की भावना पाकिस्तान के मुसलमानों में पहले कभी नहीं जाग्रत हुई थी। उनकी हत्या से जो धक्का भारत को लगा उससे कुछ ही कम पाकिस्तान के जनसाधारण को लगा होगा।

६ बजे तक चिता तैयार हो गई। वेदमंत्रों, कुरान की आयतों, ग्रंथ साहब के शब्दों और बाइबल की प्रार्थनाओं के साथ श्री देवदास

गांधी ने दाहसंस्कार आरम्भ किया। आन-की-आन में वायुमंडल को सुरभित करती हुई चन्दन की लकड़ी से अग्नि की लपटें धधक उठीं।

पश्चिम में सूर्य अस्त हो चुका था। आकाश की ओर उठती हुई लपटें और लालिमायुक्त क्षितिज यह घोषित कर रहा था कि भारत का सूर्य भी अन्तिम रूप से अस्त हो चुका है।

राजधानी में शरणार्थी

देश के विभाजन और पश्चिमी पंजाब से हिन्दुओं व सिखों के निष्क्रमण का यह सुबोध और स्वाभाविक परिणाम था कि शरणार्थी लाखों की संख्या में दिल्ली आयें और सरकार का दरवाज़ा खटखटाएँ। एक तो पुनर्वास की सारी योजनाओं का निर्माण दिल्ली में ही होता था और अब भी होता है और यहाँ ही सबकी सुनवाई होती है, दूसरे पूर्वी पंजाब की सरकार अभी तक राजधानी के सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं कर सकी। लाहौर में लाखों ऐसे आदमी थे जो वहां के बैंकों, बीमा कम्पनियों, व्यापार तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं में काम करके ही अपना जीवन निर्वाह करते थे। विभाजन के बाद ये संस्थाएँ दो-चार को छोड़कर सभी दिल्ली आ गईं, इसलिए नहीं कि इनको दिल्ली से विशेष प्रेम था, बल्कि इसलिये कि पूर्वी पंजाब की राजधानी का प्रश्न अभी तय नहीं हुआ था और न ही तय होने के लक्षण दिखाई देते थे।

ये आदमी कितने होंगे, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि लाहौर में ६० से ऊपर बीमा कम्पनियों और ५० के लगभग बैंकों के कार्यालय थे। लाहौर उत्तर भारत में शिक्षा, पत्रकारिता, प्रकाशन, मुद्रण आदि का सबसे बड़ा केन्द्र था। इन सभी संस्थाओं में प्रायः ६६ प्रतिशत कर्मचारी अमुस्लिम थे। उन सबको अपने परिवारों समेत लाहौर छोड़ना पड़ा। अधिकांश लोगों को अपनी संस्था के कार्यालय के साथ-साथ दिल्ली आना पड़ा। यदि पूर्वी पंजाब की कोई राजधानी होती तो इनमें से बहुत कम लोग दिल्ली आते।

जो लोग लाहौर से दिल्ली आये, उनमें प्रायः दो लाख ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त संस्थाओं से है। इन संस्थाओं को यहां से हटाये बिना इन लोगों से दिल्ली छोड़ने की अपील करना ऐसा ही

निरर्थक है, जैसा आम के पेड़ को आदेश देना कि सब पके फल नीचे गिरा दे।

कारण कुछ भी हो, लाखों शरणार्थियों ने दिल्ली की शरण ली। इस विशाल जनसमूह को राजधानी के जीवन में खपाने के अनेक प्रशंसनीय प्रयत्न किये गए। इन प्रयत्नों में सरकारी प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्लर्कों, चपरासियों, अफ़सरों और दूसरे सरकारी तथा अर्ध-सरकारी कर्मचारियों की भर्ती के जितने दफ्तर थे उन्हें आदेश दे दिये गये कि जहाँ तक हो सके छोटी-बड़ी सभी नौकरियों के लिये दूसरे व्यक्तियों को उसी अवस्था में नियुक्त किया जाय, जब आवश्यक योग्यता के शरणार्थी उपलब्ध न हों। यह नियम दिल्ली सरकार तथा केन्द्र के लिये ही नहीं था, बल्कि सभी प्रान्तीय सरकारों पर भी लागू किया गया।

दूसरे शहरों और प्रान्तों में इसका क्या प्रभाव पड़ा, यह स्पष्ट रूप से मुझे पता नहीं। किन्तु दिल्ली में इसके प्रभाव से कोई भी आँख-कान वाला व्यक्ति अनभिज्ञ नहीं रह सकता। यहाँ की सारी पुलिस, चुँगीखाने के मुहर्रिर, डाक-तार विभाग के बाबू, होटलों के बैरे, रेलवे स्टेशन के कुली, म्युनिसिपल कमेटियों के कर्मचारी - ये सब एकदम बदल गये। इन विभागों में काम करने वाले मुसलमान सब चले गये थे। हिन्दू यहीं थे परन्तु उनमें से कुछ ही अपने पहले पदों पर थे। बहुतों की पद-वृद्धि हो गई थी और उनकी जगह सब नये शरणार्थी ही नियुक्त हुए थे। सरकारी क्षेत्रों में उन दिनों यह कहा जाता था कि विभाजन से जहाँ लाखों व्यक्ति उखड़ गये हैं, वहाँ कुछ भाग्यशाली लोगों के लिये हुण्डिया भी खूब लुटी हैं। अनेक क्लर्क अफ़सर बन गये, ओवरसियर इंजीनियर हो गये, हवलदार दारोगा बन गये और प्रायः सभी दारोगा डिप्टी हो गये।

यह पद-वृद्धि किसी को अखरी नहीं। उस वातावरण में ईर्ष्या के लिये स्थान ही नहीं था। महाभारत तथा दूसरे ग्रन्थों में ठीक ही कहा गया है कि दैवी विपत्तियों से जहाँ प्राणियों का ह्रास होता है और जनसाधारण को सैकड़ों कष्टों का सामना करना पड़ता है, वहाँ आपत्काल से कुछ लाभ भी होता है। मानव-हृदय ऐसे ही समय में शुद्ध और विमल हो अपने साधारण दोषों से ऊपर उठता है। ठीक यही विभाजन के बाद भी हुआ। सहानुभूति, समवेदना, सद्भावना, इन

सब मानवोचित, किन्तु असाधारण, गुणों का प्रदर्शन जैसा सुन्दर १९४७-४८ की सर्दियों में हुआ शताब्दी में शायद एक-दो बार ही होता है। दिल्ली के लोगों ने खुशी-खुशी अपना राशन शरणार्थियों को दिया, अनेक पीड़ितों को पहनने को वस्त्र दिये और उत्साहवर्धक शब्द तथा सत्परामर्श की तो सचमुच झड़ी ही लग गई। दिल्ली उन दिनों एक शिविर जान पड़ती थी और उसके निवासी सच्चे स्वयं-सेवकों का-सा व्यवहार करने लगे थे।

नौकरीपेशा शरणार्थी तो ज्यों-त्यों करके इधर-उधर काम पर लग गये। व्यापार वृत्तिवाले लोगों का काम इतना सहल नहीं था। जो लोग निष्क्रान्त मुसलमानों की दुकानों में जा बैठे थे उन्हें विशेष संघर्ष नहीं करना पड़ा। किन्तु मुसलमानों की दुकानें तो पाँच प्रति-शत शरणार्थियों के लिये ही काफी थीं। बाकी लोगों ने चलती-फिरती दुकानों का आश्रय लिया। उन दिनों दिल्ली में इतनी रेढ़ियाँ बनीं कि इस काम के लिये मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि के सब बढ़ई यहाँ बुलाने पड़े। जहां देखो सड़क के दोनों तरफ़ लकड़ी की रेढ़ियां लगी हुई हैं, जिनमें सेब, अंगूर से लेकर चिलम-तमाखू तक की बिक्री होती थी। घड़ियाँ और रेडियो-जैसी कीमती चीजें भी इसी प्रकार बिकती देखी गईं।

दिल्ली के पुराने दुकानदारों ने हिम्मत और उदारता से काम लिया। सब दुकानों के सामने तख्तपोशों और रेढ़ियों की एक पाँत लगी थी। इस पाँत को तोड़कर कोई ग्राहक विरला ही पुरानी दुकान पर सौदा खरीदने जाता होगा। वास्तव में कनाट प्लेस, चाँदनी चौक, नई सड़क,सदर बाजार और खारी बावली आदि में पुराने बाजारों को शरणार्थियों की नई दुकानों के कारण ग्रहण-सा लग गया था। इन चलती-फिरती दुकानों की पाँत के पीछे पक्की दुकानों की ओर ग्राहकों का प्रायः ध्यान ही नहीं जाता था। चाँदनी चौक में तो अस्थायी दुकानों और रेढ़ी वालों की पंक्ति स्थायी दुकानों के सामने ऐसे लगी थी जैसे खौंचेवालों की मिठाई पर मिट्टी की परत जमी होती है।

स्थानीय दुकानदारों को अपनी उदारता का मूल्य समझने में बहुत देर नहीं लगी। इनमें से बहुतों का कारोबार तो बिल्कुल चौपट हो गया और उन्होंने पगड़ी लेकर किसी शरणार्थी को ही अपनी दुकान दे देने में खैर समझी। बहुत-से लोग अब शिकायत करने लगे।

अधिकारियों से आग्रह होने लगा कि शरणार्थियों के लिये नई दुकानें और नये बाजार बनाये जायँ। इसलिए नई दुकानें भी बनने लगीं। धीरे-धीरे पुरानी और नई दिल्ली में जहाँ भी खाली जगह मिली वहीं एक-एक कमरे की दुकान खड़ी कर दी गई।

दिल्ली के निवासियों या सरकार को यह चिन्ता तो थी नहीं कि दुकानें किराये पर कैसे चढ़ेंगी क्योंकि दिल्ली की आबादी इतनी बढ़ गई थी कि घूमते-फिरते आदमियों की, जिनमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं, पहुँच से बाहर कोई स्थान रह ही नहीं गया था। एक अनुमान के अनुसार दिल्ली में दिन के समय चालीस हजार व्यक्ति बराबर सड़कों पर घूमते रहते हैं। इनमें से सभी समय के पाबन्द नहीं और सभी को गन्तव्य स्थान का ठीक पता नहीं। परिणामतः हजारों व्यक्ति भटक कर ऐसी जगह जा पहुँचते हैं जहाँ उन्हें कुछ देर रुकना ही पड़ता है– पैदल हैं तो थक जाने के कारण, सवारी के शौकीन हैं तो बस के इन्तजार में। और जहाँ खाली आदमी रुका, पान, बीड़ी, सिगरेट और लस्सी-पानी पर ध्यान गया।

इसलिये दिल्ली में समस्या यह नहीं थी कि दुकान कहाँ खड़ी की जायें, बल्कि केवल यह थी कि ईंटें और चूना कैसे जुटाया जाय।

आगन्तुकों की अनुपम प्रतिभा

कहते हैं कुछ लोगों के खून में दृढ़ता होती है। कुछ जातियों में विशेष गुण पाये जाते हैं जो साधारणतः और जातियों के लोगों में नहीं पाये जाते। इस सिद्धान्त की पुष्टि सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब से आये हुए शरणार्थियों के व्यवहार से खूब हुई। जो यातनाएँ और कल्पनातीत कष्ट इन लाखों नर-नारियों को सहने पड़े शायद भारत के किसी भी दूसरे प्रान्त के लोग न झेल पाते। असह्य शारीरिक और मानसिक वेदना के भार को उठाये हुए शरणार्थी लोग राजधानी में इस प्रकार घूम-फिर रहे थे मानो कोई काफिला एक स्थान से दूसरे दूरस्थ स्थान को जा रहा है और उसने रास्ते में कुछ दिनों के लिये दिल्ली में पड़ाव डाला है।

शरणार्थी परिवार किसी-न-किसी प्रकार गिरते-पड़ते दिल्ली पहुँचे और यहाँ आते ही जीविकोपार्जन के लिये अपने-अपने काम में लग गये। किसी भी देखनेवाले को इस बात पर आश्चर्य होता था कि असाधारण विपत्तियों के बावजूद भी ये लोग यहाँ पहुँचते ही काम में कैसे जुट गये। शायद ही किसी ने भिक्षा के लिये हाथ पसारा हो। १६४७ के अन्तिम महीनों में भी जब राजधानी में लाखों त्रस्त और बेघरबार शरणार्थी आ चुके थे, दिल्ली के भिखारियों में बहुमत दूसरे प्रान्तों के लोगों का ही था।

प्रत्येक शरणार्थी परिवार की यह उत्कट इच्छा थी कि जल्दी-से-जल्दी अपने पैरों पर खड़ा हो जाय। विचार करने का तो समय ही नहीं था। सामाजिक रूढ़ियों और प्रतिबन्धों की काई उनकी वेदना रूपी वर्षा से धुल चुकी थी। वे विशुद्ध यथार्थता के पुजारी बन चुके थे। शायद शताब्दियों की शिक्षा और परम्पराएँ किसी समाज को कभी इतना न निखार सकी हों और जीवन का वास्तविक

ध्येय समझा सकी हों जितना साल भर की मुसीबतों ने शरणार्थियों को निखार दिया था। उनके हृदयों में वास्तविक नीर-क्षीर विवेक की ज्योति जग चुकी थी। वे प्राणों का मूल्य समझने लगे थे और बलिदान शब्द का अर्थ तो उनमें से प्रत्येक प्राणी के मस्तिष्क पर अंकित हो चुका था।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा है उसका आधार कल्पना नहीं, ठोस व्यक्तिगत अनुभव है। यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

बारह दिसम्बर १९४७ को कुछ स्थानीय पत्रकारों ने शरणार्थियों के विभिन्न शिविरों का निरीक्षण किया था। हमने तीसहजारी, किंग्सवे, रेलवे स्टेशन, वेवल कैंटीन तथा दूसरे स्थानों में टिके हुए शरणार्थियों को देखा। अचानक हम लोग फव्वारे की तरफ जा निकले। वहाँ हार्डिंग लाइब्रेरी के बरामदों में और लाइब्रेरी के सामने मैदान में सैकड़ों शरणार्थी डेरा लगाये पड़े थे। मैं लाइब्रेरी की ओर गया। एक आदमी लपक कर मेरे पास कुछ कहने के लिये आया। वह कुछ पढ़ा-लिखा जान पड़ता था। वह हमें सरकारी अधिकारी समझ बैठा था, इसलिये कुछ कहना चाहता था। उसके भ्रम का निवारण कर और उसे यह बता कि हम कौन हैं, हमने श्री उत्तमचन्द से बातचीत प्रारम्भ की।

उत्तमचन्द जिला मुल्तान की मेलसी तहसील के किसी गाँव के रहने वाले थे। पहले उन्हें रोहतक लाया गया और वहाँ से वे सपरिवार किसी प्रकार दिल्ली आ गये थे। अपने गाँव में वे प्राइमरी स्कूल के मुख्य अध्यापक थे और ६० रु० मासिक वेतन पाते थे। घर का मकान था, थोड़ी-बहुत जमीन थी। उनका मजे से निर्वाह होता था। उनके परिवार में थे एक पत्नी, तीन लड़कियाँ और दो लड़के। भगवान् की दया से सभी कुशलपूर्वक पाकिस्तान से आ गये थे। दिल्ली आये हुए उन्हें तीन सप्ताह हो गये थे। रोहतक कैम्प से आते समय उन्हें ३५ रु० नक़द मिले थे। उत्तमचन्द जी ने दिल्ली आते ही २५ रु० का फुटकर सौदा....दियासलाई, बीड़ी, सिगरेट, मूँगफली, चने, परमल आदि ख़रीद लिया। इसे तीन हिस्सों में बाँट वे स्वयं और दोनों लड़के सौदा बेचने निकल पड़े। एक-दो दिन निराश लौटने के बाद उनकी दो रुपया दैनिक कमाई होने लगी। पत्नी और लड़कियाँ खजूर के पत्तों के मूढ़े और सुन्दर रंग-बिरंगी बोहनियाँ

(छोटी टोकरियाँ) बनाने लगीं। तीन सप्ताह के बाद परिवार की आय चार-पाँच रुपये दैनिक होने लगी। इस सारे वृत्तान्त के बाद उत्तमचन्द ने कहा—

"हम धीरे-धीरे अपने दुखों को भूल रहे हैं। केवल एक कोठा हमें चाहिये जिसे हम अपना घर कह सकें। अगर यह काम बन जाय तो हम फिर से जीवन-यात्रा आरम्भ कर सकेंगे।"

न्यूनाधिक यही कहानी अधिकांश परिवारों की थी। कुछ लोग सम्बन्धियों के मारे जाने अथवा लापता होने के कारण शोक-ग्रस्त थे और कुछ आर्थिक क्षति को न भूल सकने के कारण हताश थे। किन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगा कि प्रायः ६० प्रतिशत शरणार्थी अतीत को भूलने के असम्भव प्रयास में असाधारण रूप से सफल दिखाई देते थे। कुछ भी हो, वे अतीत की अपेक्षा भविष्य की ओर अधिक झुके थे और क्रूर विधि की चुनौती को स्वीकार करते दीख पड़ते थे।

विभाजन से पहले दिल्ली के तांगेवालों में तीन-चौथाई से अधिक मुसलमान थे। ये सब लोग या तो पाकिस्तान चले गये थे या अन्य कारणों से तांगा चलाना छोड़ गये थे। उनका स्थान शरणार्थियों ने ले लिया। शरणार्थियों को तो काम चाहिये था जिससे कि वे कमा सकें। ऊँच-नीच के विचार की तो गुँजाइश ही नहीं थी। नये तांगे वालों में बीसियों पढ़े-लिखे नौजवान थे। हर जगह तांगे के अड्डे पर दो-चार तांगेवाले ऐसे जरूर मिलते थे जो बगल में किताब दबाये हैं या अखबार पढ़ रहे हैं।

शरणार्थियों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी मैंने एक तांगे-वाले ही से प्राप्त की थी जो दिल्ली आने से पहले क्वेटा के एक कालेज में सहायक लाइब्रेरियन था। इण्टर तक पढ़ा था और नौकरी के साथ-साथ बी० ए० की तैयारी कर रहा था कि अचानक बेचारे को घरबार छोड़कर निकल आना पड़ा। फिर भी वह मस्त दिखाई देता था और तांगा हाँककर ८-१० रुपये जो दिन में कमा पाता उससे ही संतुष्ट था।

ऐसे ही बहुत और तांगेवाले थे, जो घोड़ा हांकने की बजाय किसी भी दफ्तर की शोभा बढ़ा सकते थे या कहीं भी स्कूल में मास्टरी कर साक्षरता-प्रचार में सहायक हो सकते थे।

शरणार्थियों की अनोखी प्रतिभा का यहाँ एक और उदाहरण

देना असंगत न होगा। मेरे एक मित्र जो रावलपिंडी के रहने वाले थे, विभाजन के बाद दूसरे लोगों के साथ दिल्ली आ बसे। रावलपिंडी में वे बिजली सप्लाई कम्पनी में काम करते थे। सात-आठ सौ रुपये वेतन पाते थे। दिल्ली में किसी प्रकार उन्हें तीन सौ रुपये मासिक की नौकरी मिल गई। कुछ दिन तो वे एक सम्बन्धी के घर रहे। बाद में करौल बाग़ में ही टूटे हुए मकान के एक भाग में रहने लगे। एक दिन सायंकाल मैं उन्हें मिलने गया। क्या देखता हूँ कि वे अपने कमरे के सामने गारा और ईंटे लिये एक दीवार बना रहे हैं। पूछने पर पता लगा कि सारी चहारदीवारी उन्होंने स्वयं अपनी पत्नी और बच्चों की सहायता से खड़ी की थी। नींव भी आप ही खोदी थी।

इस भावना की कौन प्रशंसा किये बग़ैर रह सकता है! भगवान् उसकी सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करने योग्य हो—इस कहावत को शरणार्थियों ने खूब चरितार्थ किया। करौलबाग़, पहाड़गंज और सब्ज़ीमण्डी में सैकड़ों ऐसे मकान हैं जो दफ़्तरों में काम करनेवाले शरणार्थियों ने स्वयं बनाये हैं या उनकी मरम्मत की है। निरर्थक संकोच या लज्जा से ये लोग कोसों दूर हैं।

राजधानी की विषमताएँ

विषमता सृष्टि का नियम है। संसार के सभी देशों में, सभी युगों में विषमताएँ रही हैं और जान पड़ता है, सदा रहेंगी। इसलिये इनकी चर्चा से किसी भी पक्ष की आलोचना करना और उसके सम्बन्ध में कुछ कहना इतनी ही सीधी बात है जितना पानी अथवा गन्धक के गुणों की व्याख्या करना। ये सब जीवन के तथ्य हैं.... ठीक ऐसे ही जैसे पर्वत, समुद्र, मरुस्थल इत्यादि।

मेजर सूर्य नारायण पुरी मेरे दूर के सम्बन्धी हैं....वास्तव में सम्बन्धी कम और मित्र ज्यादा। क्लर्की से परेशान होकर वे १६४१ में सेना में भर्ती हो गये। तुरन्त ही मध्यपूर्व चले गये। तब से गत मई १६४६ तक वे बराबर बाहर रहे—कभी बर्मा में, कभी सिंगापुर में और इधर दो वर्षों से जर्मनी में। पूरे आठ साल के बाद पिछले दिनों उनका दिल्ली आना हुआ। राजधानी में हुए परिवर्तनों को देखकर उन्हें जो आश्चर्य हुआ, वह स्वाभाविक होते हुए भी मेरे लिये चिरस्मरणीय रहेगा। इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में वे घंटों बातें करते रहे। निद्रा ही उनकी जिह्वा को बन्द कर सकी।

असल में बात है भी कुछ ऐसी ही। हम लोग जो दिन-प्रतिदिन की घटनाओं को देखते रहे हैं अपनी आश्चर्य की भावना को कुण्ठित कर चुके हैं। दिल्ली के असाधारण परिवर्तनों की ओर हमारा ध्यान तभी जाता है जब हम हफ़्तों मारे-मारे फिरते रहने पर भी किसी भी स्कूल में बच्चों को दाखिल नहीं करा पाते, या जब किसी मित्र के लिए हमें मकान ढूँढ़ना हो, अथवा जब हजार सतर्क रहते हुए भी सड़क पर किसी साइकिल वाले से टक्कर हो जाती है। हम इनका ध्यान करें या न करें, ये परिवर्तन वास्तव में अभूतपूर्व हैं। शायद ही इतने थोड़े

समय में किसी और शहर का नक्शा इतना अधिक बदला हो, जितना विगत तीन वर्षों में दिल्ली का बदला है।

इन परिवर्तनों के लिये किसीको दोषी ठहराना अपेक्षित नहीं। जो होना था सो हो गया। सरकार अपनी क्षमता से अधिक खर्च करके आगन्तुकों को सुविधाएँ देने का प्रयास कर रही है। कम से कम अपनी तरफ से उसने पुनर्वास के कार्य में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। फिर भी कुछ विषमताएँ हैं जो सम्भव है किसी जागरूक व्यक्ति को खटकें।

कोई भी आँखोंवाला व्यक्ति यदि दिल्ली में इधर-उधर घूमेगा, वह यहाँ के नये स्कूलों और पाठशालाओं की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहेगा। ये पाठशालाएँ अधिकतर बच्चों और लड़कियों के लिये हैं। इनमें से अधिकांश किसी पेड़ के नीचे या किसी विशाल भवन के साये में आरम्भ हुई थीं। मैंने गर्मियों में साये के साथ-साथ बच्चों और अध्यापकों को सरकते देखा है। जब सूर्य इतना रुष्ट हुआ कि उसने साये को बिल्कुल सिकोड़ लिया तो स्कूल की कक्षाएँ भी विसर्जित हो गईं। प्रकृति माता की गोद में अक्षरबोध प्राप्त करने वाले इन हजारों बच्चों को कोई अभागे कहने का साहस न कर सकता यदि ये स्कूल वास्तव में शान्ति-निकेतन के आदर्श पर किसी आधुनिक योजना के अनुसार खुलते। फिर भी विवशता की आड़ में इस सराहनीय प्रयास की निन्दा नहीं की जा सकती, न ही इस कारण स्थानीय अधिकारियों को नोचा जा सकता है, क्योंकि दिल्ली में इन दिनों इतने अधिक विद्यार्थी इकट्ठे हो गये हैं कि प्रति दस में से चार के ही ऊपर छत और नीचे दरी या डेस्क मिल सकता है। भगवान् की दया से और सरकार की दूरदर्शिता से दिल्ली में घने वृक्षों की कमी नहीं, और फिर यहाँ हर रोज तो वर्षा भी नहीं होती।

शिक्षा का काम बराबर चल रहा है। विद्यार्थियों की संख्या कई गुना अधिक हो जाने पर भी यह पुण्य कार्य रुका नहीं, इसके लिये सभी श्रेय के अधिकारी हैं। परन्तु पुराने स्कूलों और कालेजों के भव्य भवनों को देखकर मानना पड़ेगा कि यह एक विषमता है। निश्चय ही यह विभाजन की देन है जिसका दायित्व किसी पर नहीं मढ़ा जा सकता।

जब स्कूलों के लिये स्थान की इतनी तंगी है, तो भला रहने के

लिये मकान कहाँ से आयेंगे। अभी विज्ञान ने इतनी प्रगति नहीं की कि तम्बुओं की तरह घर भी आवश्यकतानुसार आदेश मात्र से खड़े कर दिये जा सकें। एक उच्चाधिकारी के अनुमान के अनुसार अप्रैल १९४७ में दिल्ली की जनसंख्या दस लाख से कुछ ऊपर थी और रहने के लिये घर आठ लाख व्यक्तियों के लिये ही थे। और आज जबकि मकानों में केवल १३,००० की ही वृद्धि हुई है, जनसंख्या १९ लाख से कम नहीं। जब ऐसी स्थिति हो तो कोई क्या करे। आज हजारों परिवार सड़क के किनारे लकड़ी के कठघरों में या मुगलकालीन इमारतों के खंडहरों में पड़े हैं। यह दुःख का विषय तो हो सकता है आश्चर्य का नहीं।

यह बात मैं अपने मित्र श्री सुमेर को कई बार समझा चुका हूँ, परन्तु न जाने वे इसे क्यों नहीं समझ पा रहे हैं। श्री सुमेर रिटायर्ड पुलिस अफसर हैं। गुजरात (पंजाब) में उनकी दो कोठियाँ थीं। दुर्भाग्य से उन्हें दिल्ली में इच्छानुसार कोई मकान नहीं मिला। वे सपरिवार एक कमरे और बरामदे में निर्वाह कर रहे हैं। एक दिन वे किसी पुराने मित्र से मिलने क्वीन्स-वे गये। वहाँ भूल से वे किसी दूसरी कोठी में घुस गये। चारों तरफ घूम गये पर अन्दर से कोई नहीं बोला। कुछ देर बाद माली आया। उसने बताया कि साहब छावनी गये हुए हैं।

पता लगा कि वे साहब वहाँ अकेले ही रहते हैं। सुमेर जी के तो पाँव-तले की जमीन खिसक गई। बड़े-बड़े आठ कमरों वाली इतनी बड़ी कोठी और रहता है उसमें सिर्फ एक आदमी। यह सोचते ही वे अपना मानसिक संतुलन खो बैठे और सीधे मेरे पास आये और लगे मुझे भली-बुरी सुनाने। "कहाँ है अब आपकी वह वकालत, और आपका मीठा धर्मोपदेश। क्या यही सामाजिक न्याय है कि मैं पाँच आश्रितों के साथ एक कमरे में रहूँ और एक अफसर दस एकड़ की आठ कमरों वाली कोठी में अकेला डटा रहे। बस बहुत हो चुकी, मैं तो तुमसे कहने आया हूँ कि मैं आज ही उस कोठी के चार कमरों पर कब्जा करने जा रहा हूँ। देखता हूँ कौन मुझे रोकता है।"

एक भूतपूर्व पुलिस अफसर को इस तरह उत्तेजित अवस्था में देखकर मैं बहुत घबराया। मैंने हाथ जोड़कर नम्र निवेदन किया—"भगवन्, इतनी जल्दबाजी ठीक नहीं। एक-दो दिन में पता लगा लिया

जायेगा कि उस कोठी में कौन रहता है और क्या वह सचमुच अकेला है या नहीं।"

किसी तरह समझा-बुझाकर बड़ी मुश्किल से मैंने चाय पीने के बहाने सुमेर जी को बैठाया।

कोई भी न्यायप्रिय आदमी इस स्थिति में सुमेर जी को दोषी नहीं ठहरायेगा। मकानों के सम्बन्ध में वास्तव में विषमता इतनी अधिक खटकती है कि इसके देखने-मात्र से बुद्धि विद्रोह पर उतारू हो जाती है। किन्तु हर समझदार व्यक्ति विद्रोह नहीं करता। वह स्थिति को समझने का प्रयत्न करेगा। वह देखेगा कि स्थिति यद्यपि भयंकर है उसके झल्लाने से काम नहीं चलेगा। यदि वह अपने आप को निर्दोष पाता है, तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरा इसके लिये दोषी हो। बात यह है कि विभाजन और उसके परिणामस्वरूप लाखों आदमियों के स्थानान्तरण ने जो समस्याएँ पैदा की हैं वे किसी भी सरकारी अथवा गैर-सरकारी संगठन के बस की नहीं। इन समस्याओं से पता लगता है कि आदमी कितने पानी में है। कुछ भी हो इनका हल एक-दूसरे की खाल खींचना नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग और सद्भावना ही है। सरकार का तो कहना ही क्या, देश में कोई ऐसा वर्ग नहीं जो दिल से न चाहता हो कि शरणार्थी शीघ्र से शीघ्र बस जायें और इस कँटीली समस्या से सबका पिंड छूटे।

दिल्ली की विषमताओं का आवश्यक रूप से शरणार्थियों ही से सम्बन्ध नहीं है। शरणार्थी तो दिल्ली में हजारों वर्षों से आते-जाते रहे हैं। यहाँ की विषमताएँ प्रकृति की देन जान पड़ती हैं। इसीलिए शायद मुसलमान बादशाह दिल्ली से स्नेह करते हुए भी इसे पुण्य भूमि नहीं मानते थे और शायद पुण्य की खोज में ही बादशाहों ने दिल्ली के आसपास की भूमि को खोदकर छलनी कर डाला था। जिस नगर में हम रहते हैं यह तो आठवीं दिल्ली है। इससे पहले सात दिल्लियाँ बनीं और उजड़ीं। अपशकुन से बचने के लिये हर बार बस्ती और शाही महल इधर-उधर खिसकते रहे। पर अन्त सबका एक ही हुआ।

किन्तु विषमता का ऐतिहासिक पहलू अब प्रासंगिक विषय नहीं है। अब दिल्ली स्वतंत्र भारत की राजधानी है। अब विषमताओं के साथ प्लेग के चूहों का-सा सलूक होगा, या यों कहिये कि होना

चाहिये। यह अभिप्राय नहीं कि दिल्ली में रहने वाले सभी राजदूत बन जायेंगे या सभी सूर्यास्त के पर्व को मनाने प्रतिदिन क्लबों की रौनक बढ़ायेंगे। वह स्वर्ण युग तो कल्पना जगत का ही अंग रहेगा। कम से कम यह तो आशा की ही जा सकती है कि पगडंडी पर सोने वाले कुछ ऊपर उठेंगे—जो परम्परागत भिखारी हैं उन्हें उद्यम में कल्याण दिखाई देगा, जो गोशाला के पशुओं की तरह तंग और अस्वच्छ घरों में रहते हैं उन्हें भी चढ़ते सूरज की किरणें छू सकेंगी और जो हजारों बालक और बालिकाएँ अभिभावकों की साधनहीनता के कारण पाठशाला के दर्शन तक नहीं कर पातीं, कम से कम स्वाधीन भारत की राजधानी में वे सरस्वती की आराधना कर सकेंगी।

बाबू कैलाशचन्द्र

युद्ध छिड़ने के कुछ महीने बाद जब मैं दिल्ली में ही रहने लगा तो कैलाश से मिलना-जुलना और भी बढ़ गया। मुझे यहाँ देखकर उन्हें बहुत खुशी हुई। एक दिन कुछ मित्रों के साथ हम लोग पुराने किले चले गये। सुहावनी धूप निकली थी, खुली जगह थी, और खाने का सामान आवश्यकता से अधिक हमारे साथ था। वहीं भोजन बनाया गया। खा-पीकर इधर-उधर की गप लड़ाने लगे। उस दिन अचानक कैलाश के मुँह से एक ऐसी बात निकली जो सात साल बाद बिल्कुल सच साबित हो गई। मैं वैसे ही हँसी में बलदेवदास जी से कह रहा था कि बाबर रोड पर भी दो-तीन लाहौर के पुराने दोस्त मिल गये हैं, खूब जी लगा रहता है। न जाने क्यों, अकारण ही कैलाश बोल उठे—"अजी जनाब, अभी क्या है, जरा देखते रहिये। अभी तो इने-गिने आदमी ही लाहौर से दिल्ली आये हैं। वह दिन दूर नहीं जब सारा लाहौर इधर खिंचा आयेगा।"

कैसी भयंकर भविष्यवाणी सिद्ध हुई यह बात। कभी-कभी तो कैलाश इन अपने शब्दों को याद कर बड़े शरमाते हैं। सचमुच ही आधा लाहौर आज दिल्ली की जीवनधारा में आ मिला है। यद्यपि उनकी उन दिनों की बात का १६४७ की घटनाओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, पर कैलाश आज तक पुराने किले में कहे गये शब्दों के लिए दुख और संताप का अनुभव करते हैं।

अगर मुझसे कोई मेरे चार घनिष्टतम मित्रों के नाम पूछे, और मुझे बताने में संकोच न हो, तो कैलाशचन्द्र का नाम मैं उस सूची में अवश्य रखूँगा। उनसे मेरा परिचय काफी पुराना है। परन्तु परिचय मित्रता का कारण नहीं, आधार हो सकता है। जीवन में नये-नये लोगों से परिचय तो प्रायः होता ही रहता है, पर उनमें से

हर एक मित्र तो नहीं बन जाता। कभी-कभी परिस्थितियां दो प्राणियों को बरबस मित्रता के बन्धन में बांध डालती हैं, और कभी ऐसा भी होता है कि किसी के विशेष गुणों और स्वभाव के कारण ही हम उसे मित्र समझने लगते हैं। कैलाश इस दूसरे वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। उनका स्वभाव और गुण कर्म ही मेरे लिए आकर्षण का विषय बना। वे मेरे सम्बन्ध में क्या सोचते होंगे, यह मैं नहीं जानता। अपने ही बारे में कह सकता हूँ।

जान-पहचान तो कैलाश जी से लाहौर में ही हो गई थी। वे दिल्ली से प्रायः लाहौर आया करते थे और जब कभी उन्हें कोई और ठिकाना न मिलता तो मेरे यहाँ आ ठहरते थे। उनकी बेतकल्लुफी का और सीधेपन का मैं कायल हो चला था। पर फिर भी अतिथि की बेतकल्लुफी में आकर्षण की झलक देखता, इतना मूर्ख मैं नहीं था। उन दिनों तो मैं ऐसे दाव-पेंच सोचा करता था जिनसे कैलाश समझ लें कि मैं स्वभाव से इतना गम्भीर हूँ कि मनहूस कहा जा सकता हूँ और उनकी बेतकल्लुफी का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि मैं उन दिनों इतनी सूझ से काम न लेता तो आज कैलाश और मैं इतने गहरे मित्र न होते। मेरे लिए सतर्कता आवश्यक थी, क्योंकि कैलाश तो सदा लगाम ढीली छोड़े रखते थे। देश और काल के बन्धनों से वे बहुत हद तक ऊपर उठ चुके थे। यदि मैं चाहता तो चार दिन की बजाय दो महीने उन्हें अपने यहां रोक सकता था। इन बन्धनों की चिन्ता मुझे थी, उन्हें नहीं।

कैलाश घर के रईस हैं, इसलिए जीविका के सम्बन्ध में सोचने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिला। अच्छे खासे पढ़े-लिखे हैं। अगर दिल्ली के ही किसी दफ़्तर में क्लर्क हो गये होते तो आज अफसर तो बने पड़े थे। परन्तु नौकरी से तो वे दूर भागते हैं। बात भी सच्ची है। जिसे भगवान ने खाने को दिया हो, वह चाकरी करे तो पागल है। उनके पिता अच्छे व्यापारी थे। १९४६ में ही उनका देहान्त हुआ। उन्होंने काफी कमाया। कई घर के मकान हैं। कैलाश चाहें तो मकानों के किराये पर ही अच्छा निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कैलाश के कुछ न करने का कारण, पिता की कमाई और साधन-सम्पन्नता नहीं। इस निर्णय में कैलाश की विचारधारा को भी दखल है। उनका यह मत था और है कि जो परिवार पीढ़ी-दर-

पीढ़ी धन कमाने में ही लगा रहेगा वह निश्चय ही अधोगति को प्राप्त होगा और उसके सदस्यों में प्रतिभा नाम को भी नहीं रह जायगी। उनके मतानुसार प्रतिभा की रक्षा तभी हो सकती है जब एक पीढ़ी कमाये, दूसरी खाये और केवल मजा उड़ाये और तीसरी फिर कमाने में जुट जाय। यह व्यवहार दर्शन कैलाश के शब्दों में ही सुनिये—

"प्रतिभा बड़ी कोमल वस्तु है। धनोपार्जन के प्रयास का यह बोझ नहीं सह सकती। और दुनिया में सभी कमाने लगें, यह बात भी कुछ जँचती नहीं। कम-से-कम उन लोगों को तो कमाई से मुँह मोड़ ही लेना चाहिए जिनके पिता दूरदर्शी थे या हैं और काफी धन कमाकर छोड़ गये। मेरे विचार में आदर्श स्थिति यही है कि प्रत्येक परिवार में एक पीढ़ी कमाये, तो दूसरी केवल खाये और विचार-मग्न रहे और तीसरी पीढ़ी फिर कमाने में जुट जाये। अगर इसी क्रम से काम चलता रहे तो इससे भूखों मरने का डर नहीं और बुद्धि का ह्रास भी नहीं होगा। हमारे स्वर्गीय बाबा ही को लीजिए। गदर के बाद की दिल्ली का यदि कोई इतिहास लिखे, तो हर पृष्ठ पर उनका जिक्र करना पड़ेगा। चाहे ताजिये निकल रहे हों, या कहीं मुशायरे की महफिल जमी हो, या नये जंगी लाट के स्वागत में दिल्ली वालों ने कोई जल्सा किया हो, या किसी अधेड़ नवाब के यहाँ ब्याह-शादी हो—बात क्या, दिल्ली में किसी भी तरह का कोई सामाजिक उत्सव हो, बाबू शिब्बूमल अवश्य वहाँ होंगे। उनके पिता बहुत बड़े जौहरी थे। किले से ही उन्हें बहुत आमदनी थी। तो फिर शिब्बूमल जी कमा के क्या करते। वे सर्वसम्मति से नगर के चौधरी बन गये। जहाँ देखा वहीं दिन बिता दिया, जिस किसी से सुर मिल गया उसी के हो लिए। बाबा के बाद पिताजी ने दूसरा रास्ता पकड़ा। पुराना बहीखाता फिर निकाला और व्यापार में रत हो गये। भला इस सुन्दर परम्परा को मैं कैसे छोड़ दूँ।"

अगर कोई मित्र इन विचारों के कारण कैलाश को सनकी या खब्ती कहता है, तो उन्हें क्रोध नहीं आता। बहुत शान्ति और विवेचनशीलता के साथ वे ऐसे लोगों को यह जवाब देते हैं :

"हो सकता है मैं सनकी हूँ। मेरा जन्म दिल्ली में हुआ और यहीं मैं पला, पर फिर भी देहाती जीवन से मेरा विशेष लगाव रहा।

है। इसलिए एक बात पूछूँगा। क्या कभी किसी किसान से आपने यह पूछा है कि धरती को उपजाऊ बनाए रखना हो तो क्या करना चाहिए। वह तुरन्त ही यह उत्तर देगा कि या तो फसल बदलकर बोई जाय या छः महीने के लिए धरती खाली छोड़ दी जाय। कितनी सीधी बात है। बस यही हाल मस्तिष्क का है। तीस-चालीस वर्ष बाद एक परिवार में यदि एक युवक आटे-दाल के धन्धे से मुक्त रह स्वच्छन्द गति से विचरेगा तो निश्चय ही परिवार के भावी जनों का मानसिक स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, विचार उन्नत रहेंगे और प्रतिभा सुरक्षित रहेगी। बस मेरा यही निवेदन है।"

कैलाश की इन बातों से कुछ लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और उन्हें आलसी समझ बैठते हैं। वास्तव में कैलाश आलस्य नाम की वस्तु से बहुत दूर हैं। उन्हें पढ़ने का शौक है और योजनानुसार काम करने की आदत। मैं तो उन्हें विद्वान मानता हूँ। दक्षिण की भाषाओं को छोड़कर दूसरी भारतीय भाषाएँ वे खूब जानते हैं। रसगुल्ले वाले से वे ठेठ बंगला में बोलते हैं, पारसी मित्रों से गुजराती में विनोद करते हैं और महाराष्ट्र-समाज में उन्हीं लोगों की भाषा में चख-चख लगाये रखते हैं। जब उनकी इस प्रतिभा का मुझे पता चला तो सब भाषाएँ जानने को मेरा जी ललचाया। मैंने कैलाश से आग्रह किया कि भई मुझे भी बंगला, मराठी आदि सिखाओ। वे बोले—"यह कौनसी बड़ी बात है। क्वेकर ओट्स खाया करो। छः महीने में ही सब भाषाएँ आ जायँगी।"

मजाक रहने दो, मैं झुँझलाकर बोला—यदि सिखा सकते हो तो बताओ, नहीं तो रहने दो।

"मजाक कौन कर रहा है! मैंने तो भाषाएँ सीखने का तुम्हें वही नुस्खा बताया है जिससे मैं सीखा हूँ। विश्वास करो या न करो, यह तुम्हारी इच्छा। जब से मैंने क्वेकर ओट्स खाने शुरू किये, ये सब भाषाएँ मुझे आ गईं। जब तक ओट्स पकते हैं और ठंडे होते हैं, मैं गोल डिब्बे पर अंकित भाषाओं को पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। हिन्दी की मदद से उन्हें समझ लेता हूँ। फिर लिखने का अभ्यास करता हूँ। प्रत्येक भाषा की एक-एक प्रवेशिका ली और ध्यान से पढ़ी। फिर तो ये भाषाएँ भुलाये से भी नहीं भूलतीं।"

कैलाश की बात बिल्कुल ठीक थी। उन्होंने वास्तव में ये भाषाएँ

क्वेकर ओट्स के डिब्बों से ही सीखी थीं। मैंने स्वयं यह प्रयोग किया। कैलाश-जितनी तो नहीं, पर कुछ सफलता अवश्य मिली। खैर, भला जिस आदमी ने डिब्बों और शीशियों पर अंकित विज्ञापनों से कई भाषाएँ सीख लीं, उसे आप आलसी कैसे कह सकते हैं।

कैलाश में एक और विशेषता है। वे दया और सहानुभूति को सबसे बड़ा पुण्य कर्म मानते हैं। फिर भी भावुकता से उन्हें बहुत बैर है। भावुक प्राणी से वे हँस कर बात करने तक को तैयार नहीं। भावुकता को वे अनेक त्रुटियों, पापों और गलतियों का मूल मानते हैं। सिद्धांत रूप से वे भिक्षा की प्रथा के कट्टर विरोधी हैं। भिखारी और भिक्षा देने वालों, दोनों ही को मुक्त कंठ से गाली देते हुए मैंने उन्हें दसियों बार सुना है। चाँदनी चौक में बहुत से भिखमंगों को देखकर एक बार वे बोले—"मेरा बस चले तो इन सब के कोड़े लगवाऊँ। इनमें सभी तो लंगड़े-लूले नहीं। फिर भी न जाने क्यों इन्होंने हरामखोरी पर कमर बाँध रखी है। इस कलंक को समाप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि इन सबको पुलिस के हवाले कर दिया जाय। चार दिन हवालात में रहेंगे तो सीधे हो जायंगे।"

यह आवेशपूर्ण भाषण कैलाश ने खतम ही किया था कि मैले-कुचैले कपड़े पहने एक बूढ़ा सामने आ खड़ा हुआ और हाथ पसारे हुए कुछ बुड़बुड़ाने लगा। कैलाश फिर उबल पड़े, "यह क्या मज़ाक कर रखा है तुम लोगों ने। तुम्हें और कोई काम ही पसंद नहीं। लोगों के आगे हाथ पसारने को ही पेशा समझ बैठे हो। भागो यहाँ से, नहीं तो ऐसा धक्का दूँगा कि सड़क पार जाकर गिरोगे।"

बूढ़ा सचमुच एकदम सड़क पार भागता दिखाई दिया—कैलाश के धक्के के कारण नहीं, बल्कि क्रोध में आकर उन्होंने जो इकन्नी फैंकी थी उसे उठाने!

इस प्रकार के विरोधाभास कभी-कभी कैलाश जी के जीवन में निकट से देखने वाले को दिखाई देते हैं। परन्तु उनकी सदाशयता या सद्‌भावनाओं में किसी तरह सन्देह नहीं किया जा सकता। वे सच्चे तो हैं ही, साथ ही सीधे भी हैं। जो काम करना है उसे वे घुमा-फिराकर नहीं बल्कि तुरन्त स्पष्ट रूप से करने में विश्वास रखते हैं।

विभाजन के बाद के दिनों में जब दिल्ली रंग बदल रही थी, मेरा और कैलाश जी का कई दिन तक साथ रहा। एक दिन एक मित्र को

सवार कराने हम लोग रेलवे स्टेशन पर गये। मैं और कैलाश इधर कई सप्ताह से स्टेशन नहीं गये थे। वहाँ का जो दृश्य हमने देखा, वह बयान करना मुश्किल है। चारों तरफ पश्चिमी पंजाब से आये हुए शरणार्थी पड़े थे, जिनमें आधे रोगी दिखाई देते थे। हमें कुछ मिनटों में ही साक्षात करुणा के दर्शन हो गये। मित्र को गाड़ी में बिठा कैलाश कुछ शरणार्थियों से बातें करने लगे। भावुक न होते हुए भी उनके चेहरे का रंग बदल गया। मन-ही-मन में वे सौगन्ध-सी खाते सुनाई पड़े। शरणार्थियों की करुण कहानी से उन्हें प्रभावित देख मैं किसी बहाने उन्हें जल्दी ही स्टेशन से बाहर निकाल लाया।

कैलाश अपने भावों को छिपाना तो सीखे ही नहीं। तांगे में बैठते ही बरस पड़े—"तुम-जैसा तोताचश्म भी मैंने कोई नहीं देखा। हमारे लाखों भाइयों पर अत्याचार के पहाड़ टूट पड़े हैं और तुम्हें घड़ी देखने और मेल-मुलाक़ातों के बारे में सोचने के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं रहा। सुनी उस गरीब की बात जिसके पास मैं खड़ा था? बेचारा परसों का बाल-बच्चों समेत स्टेशन पर पड़ा है। मुल्तान की तरफ से आ रहा है। अच्छा खाता-पीता आदमी दिखाई देता है। आज उसकी यह दुर्दशा है। उसे तन-मन की होश नहीं। जब मैंने पूछा कि यहाँ मुसाफिरखाने में क्यों पड़े हो तो बोला कि कहां जाऊँ, और कोई ठिकाना ही नहीं। दिल्ली बेचारे ने पहले कभी देखी ही नहीं। अब बतलाओ ये लोग कहां जायँ। पाकिस्तान से तो अब ये सब-कुछ वहीं छोड़ निकल आये हैं। अब कहाँ जायँ, कहां रहें और क्या करें?"

कैलाश की विचारधारा को मैंने फिर विषय बदल कर रोका। मैंने कहा तुम ठीक कह रहे हो, मगर सारे जमाने का भार अपने हीं सिर पर क्यों उठा रहे हो? हमारे नेता लोग हैं, सरकार है, उन्हें भी तो स्थिति का ज्ञान है। वे आप इस समस्या का हल सोच रहे होंगे।

कुछ दिनों के बाद दिल्ली में दंगा हो गया। हमें पता लगा कि हमारे कुछ मुसलमान मित्र घरों को छोड़कर पुराने किले चले गये हैं। उन दिनों घर से बाहर निकलना भी जोखिम का काम था। पर कैलाश इन बन्धनों को कब मानते थे। उनके आग्रह पर हम दोनों मूसलाधार बारिश में घर से निकल पड़े और पैदल पुराने किले पहुँचे। घंटों बाहर खड़े रहने के बाद अन्दर जाने को मिला। हम लोग सिपाही के साथ-साथ बहुत देर किले में घूमे। किसी मित्र का पता न लग सका। निराश

बाहर आ ही रहे थे कि मौलाना हमजा पर मेरी नज़र पड़ ग.। वे आगे लपके और मुझसे और कैलाश से लिपट कर बुरी तरह रोने लगे। यह प्रक्रिया दस मिनट तक चलती रही। हमजा ने तो आँखें पोंछ अपना स्वर ठीक कर लिया, पर कैलाश बाबू बराबर रोते ही रहे। रोते-रोते वे हमजा से फिर लिपट गये और बोले—"बला की बारिश हो रही है, आप इस खुले में कैसे रह रहे होंगे। आप तो इस किले पर कविता किया करते थे, अब इसकी दीवारें आपकी हालत पर आँसू बहाती होंगी।"

"दीवारें ही नहीं, मियां," हमजा चौंककर बोले, "इन घुड़-सालों की छत भी परसों से आँसू बहा रही है। तीन दिन से कोई सूखी चीज देखनी नसीब नहीं हुई। सब तरफ जल-थल दिखाई देते हैं। तिराहा बहराम खां में अपने घर का खयाल आता है तो जी और भी खराब होता है। फिर मैं सोचने लगता हूँ—किसका घर, अब न वह घर तेरा, न दिल्ली तेरी और न यह वतन तेरा...।" ये शब्द कहते-कहते हमजा धड़ से गिर पड़े। कैलाश ने उन्हें उठाया और मौलाना को लेकर हम लोग भीड़ से बच कर एक कोने में चले गये। कुछ देर बाद हमजा को होश आया और उन्होंने आँखें खोलीं। कैलाश को इससे बड़ा सन्तोष हुआ और हमजा से लिपट कर बोले—"भाई जान, क्या तुम सचमुच इस देश से जाने की सोच रहे हो। तुम तो यह कहा करते थे कि जिसका दिल्ली से जी ऊब जाय वह सरीहन मौत का तालिब है। अब तुम ही आँखें फेर गये। हम लोग तुममें से किसी को भी जाने नहीं देंगे।"

हमजा की आँखें फिर गीली हो गईं। रुंधी हुई आवाज में वे बोले—"मियां कैलाश अब जितनी कम बातचीत की जाय उतना ही अच्छा। मैं और तुम तो नाचीज हैं। यह तूफान हमें कब पहचानने लगा है। वही दिल्ली जिसे देखने तुर्क और पठान, काफिलों में, रास्ता तय करके आया करते थे, अब नासूर बन गई है। 'हुनूज दिल्ली दूर अस्त' (अभी दिल्ली दूर है) ये अलफाज उनकी हिम्मत बाँधते थे और वे मंजिल पर मंजिल तय किये चले जाते थे। अब उन्हीं लोगों की औलाद दिल्ली के बारे में क्या कहेगी ? यही ना, "हुनूज दिल्ली नेस्त" (अब दिल्ली नहीं है)।"

यह सारा विवाद निरर्थक समझ मैंने कैलाश को चलने के लिए

संकेत किया। हमने हमजा से आज्ञा माँगी। कैलाश ने अपनी बरसाती उन्हें दे दी और हमजा ने जो-जो चीजें माँगी थीं वे उन्हें शाम तक पहुँचाने का वायदा कर हम लोग पुराने किले से बाहर आ गये।

कैलाश के दिल में तूफान उमड़ रहा था। अगर मैं साथ न होता तो शायद वे घर का रास्ता भूल जाते और कहीं और ही जा निकलते। वे बार-बार कहते 'संसार परिवर्तनशील है'। और फिर एक दम चौंक कर मुझसे पूछते—पर क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि लाखों आदमी अपना घरबार छोड़ कर कहीं और चले जायँ। मैं इस प्रश्न के उत्तर में उन्हें उनके सिद्धांतों की याद दिलाता जिनमें भावुकता के लिए स्थान नहीं था। इस प्रकार विचारों में मग्न बहुत कम बोलते हुए हम घर आ पहुँचे।

दिल्ली का परिवर्तनशील भूगोल

आज से दस साल पहले यदि कोई दिल्ली की भौगोलिक सीमाओं के बारे में पूछता तो हम उसे कह सकते थे : 'दिल्ली वह नगर है जिसके उत्तर में तीमारपुर, दक्षिण में सफदरजंग, पश्चिम में शादीपुर और पूर्व में शाहदरा हैं।' अगर यही बात आज १६५० में किसी भूगोल के विद्यार्थी को बतलाई जाय तो वह हँसेगा। तीमारपुर, सफदरजंग, शादीपुर और शाहदरा अब दिल्ली के ही भाग बन गये हैं। दिल्ली की भौगोलिक स्थिति का वर्णन अब इन स्थानों की सहायता से नहीं किया जा सकता। सच पूछिये तो यह कहना अत्युक्ति न होगी कि दिल्ली वह नगर है जिसके उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण सभी दिशाओं में दिल्ली ही दिल्ली है।

इतिहास से पता लगता है कि नई दिल्ली, जहाँ हमारे गणराज्य के प्रधान कार्यालय स्थित हैं आठवीं दिल्ली है। जिसे आजकल पुरानी दिल्ली कहा जाता है वह सातवीं है। उनसे पहले मुसलमान काल में ६ दिल्लियाँ और बसीं और उजड़ीं। आज दिल्ली का विस्तार हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष के अनुरूप ही है क्योंकि विगत दस सदियों में इधर-उधर जितनी दिल्लियाँ बस के उजड़ीं उनमें फिर से जीवन के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। मध्य-युग के प्रहारों के कारण दिल्ली के वक्षस्थल पर जो घाव हो गए थे, वे स्वाधीनता युग ने उदार विस्तार द्वारा भर दिये हैं। अब उजड़ी और बिछड़ी हुई दिल्लियाँ फिर से एक नगर बनने जा रही हैं।

यह घटना तो बड़ी सुन्दर है, परन्तु इस पुनर्मिलन के उल्लास में भी एक टीस छिपी है। प्रकृति ने दिल्ली पर अपार कृपा की है। मैदानी क्षेत्र होते हुए भी दिल्ली में एक पर्वत-शृंखला है जिसने दिल्ली के प्राकृतिक सौंदर्य को चार चाँद लगा दिये हैं। अंग्रेजी काल में इस

पर्वत को 'रिज' की उपाधि मिली थी जो अब भी प्रचलित है। इस रिजरूपी कटिबन्ध ने दिल्ली को सौंदर्य ही नहीं दिया बहुमूल्य पत्थर, जंगल और अन्य वनस्पति तथा अनेक जंगली पशु भी प्रदान किये। जैसे-जैसे पुनर्मिलन की क्रिया क्रमशः बढ़ रही है वैसे-वैसे ये सब प्राकृतिक वरदान विलुप्त होते जा रहे हैं। निकट भविष्य में ही एक समय आयगा जब दिल्ली का रिज आँख से बिल्कुल ओझल हो जायगा।

दूसरे नगरों में सड़कें बनाने के लिए और भवननिर्माण के लिए पत्थर बाहर से मँगवाना पड़ता है। दिल्ली के इंजीनियर इस झंझट से मुक्त हैं। दिल्ली के रिज में इतना पत्थर है कि आप चाहें जितनी सड़कें बना सकते हैं और मौजूदा सड़कों को जितना चाहें चौड़ा कर सकते हैं। इस पत्थर से जहाँ दिल्ली की निर्माण योजनाओं को कार्यान्वित करने में सुविधा मिली है वहाँ रिज को भयानक क्षति पहुँची है। कई स्थानों से रिज बिल्कुल गायब हो गया है, यद्यपि इसका स्वरूप और पत्थर कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। किन्तु इसके दोनों ओर जो जंगल थे वे पूर्णरूप से नष्ट हो गये हैं।

१६४१ की बात है कि मैं अपने मित्र श्री कौल के साथ पूसा इंस्टिट्यूट गया। श्री कौल वहाँ इंजीनियर हैं। उनके यहाँ खाना खाते-खाते बहुत देर हो गई। सर्दियों के दिन थे। १० बजे मैंने अपनी साइकिल उठाई और चल पड़ा। कुछ दूर पूसा रोड तक मेरे साथ श्री कौल भी आये। उन दिनों पूसा रोड तक दोनों तरफ बिल्कुल जंगल बियाबान था। पूसा रोड और नई दिल्ली के बीच में काफी घना जंगल था और एक नाला था जो रिज के साथ-साथ तुगलकाबाद तक जाता था। इसे खूनी नाला कहते हैं। जैसे ही हम पूसा रोड पर आये हमने देखा कि नाले की तरफ से दो आदमी भागे हुए आ रहे हैं। हमें देखकर वे रुक गये। श्री कौल ने पूछा क्या बात है। उनमें से एक बोला—"साहब, नाले के दूसरी तरफ जानवर है। हमारी एक बकरी को उसने मार डाला है और खा रहा है। हम सड़क पर चुंगी के पास पड़े सो रहे थे, जानवर की आवाज से ही हमारी आँख खुली।"

कौल महाशय को और क्या चाहिये था। मुझको उन आदमियों के साथ वहीं खड़ाकर झट से साइकिल पर चढ़ बन्दूक लेने

चले गये। पाँच मिनिट में ही वे वन्दूक समेत लौट आये। साइकल तो हमने सड़क के एक तरफ़ रख दी और चारों आदमी खूनी नाले की तरफ़ चल दिये। नाले के पास पहुँचते ही हमें विजली की तरह चमकती हुई दो आँखें दिखाई दे गईं। जानवर नाले की दूसरी तरफ़ था और हम इस तरफ़। इसलिए हमने मनचाही करने में अधिक संकट नहीं देखा। हम सबको वहीं खड़ाकर श्री कौल आगे वढ़े। नाले के अन्दर उतर कर उन्होंने गोली चला दी। जानवर ने एकदम दहाड़ना शुरू किया। तुरन्त इसके वाद ही तीन-चार गोलियाँ और चलीं। फिर हम सबको श्री कौल ने वुला लिया। नाले से निकलकर हम चारों मृत जानवर के पास गये। यह पाँच फ़ुट लम्वा चीता था।

जहाँ तक मेरा खयाल है दिल्ली की म्यूनिसिपल सीमा में मारा जाने वाला यह अंतिम हिंसक-पशु था। गीदड़ तो अव भी शाम को वोलते सुनाई देते हैं, परन्तु चीते आदि के आने की अव वहाँ कोई सम्भावना नहीं। खूनी नाले का एक भाग वन्द कर दिया गया है और जहाँ ऊवड़-खावड़ पहाड़ी में १९४१ में हमारे मित्र ने चीते का शिकार किया था वहाँ आज शरणार्थियों की एक वस्ती वस गई है, जिसकी जनसंख्या २०,००० से ऊपर है। लगभग यही हाल सफदरजंग के सामने भोगल के पास जो वंजर-भूमि पड़ी थी उसका हुआ है। भूमि में चारों तरफ झाड़ झंकार और पील के पेड़ और टींट की झाड़ियाँ थीं। सफदरजंग से निजामुद्दीन तक यह सारा इलाका वीरान पड़ा था। कहीं-कहीं कोई पुरानी कब्र दिखाई देती थी, नहीं तो चारों तरफ झाड़ियाँ ही थीं।

आज वहाँ नई दिल्ली की सवसे वड़ी वस्ती है जिसमें ४५०० सुन्दर मकान और लगभग ६०० दुकानें हैं। इस वस्ती की जनसंख्या २५,००० से ऊपर है। वास्तव में यह वस्ती दिल्ली में सवसे मनोरम है। कैलाश इसे (लोधी कालोनी को) हिन्दुस्तान की सबसे वड़ी छावनी कहा करते हैं।

चाँदनी चौक के सिरे पर दीवान हाल के सामने ४ वर्ष हुए एक वड़ा सुन्दर-वाग था। इसकी हरी-हरी घास पर शाम के समय लाला लोग दुकान से छुट्टी पा लेटकर या प्रियजनों के साथ वैठकर मनोरंजन किया करते थे। दिन के समय यहाँ वच्चे पतंग उड़ाया करते थे। यह वाग यमुना जी के रास्ते में था। प्रातःकाल यमुना जी से आती-जाती स्त्रियाँ यहाँ पाँच मिनिट वैठकर साँस लिया करती

थीं। यमुना-स्नान के वाद जो वच्चे और तरुणियाँ दल से पिछड़ जाती थीं वे सब इस वाग में इकट्ठे होकर अपने-अपने घरों की ओर अग्रसर होती थीं।

आज इस वाग को एक विशाल वाजार में परिवर्तित कर दिया गया है जिसमें विलायती कपड़े से लेकर पुराने गुलदस्ते और पिर्च प्याले तक बिकते हैं। इस बाजार में १,६०० दुकानें हैं। एक समय तो इस मार्केट के कारण चाँदनी चौक को ग्रहण-सा लग गया था।

इसी प्रकार दसियों और छोटी-बड़ी बस्तियाँ बस गई हैं। फिर भी चारों तरफ मकानों और दुकानों की मांग है। सुना है ४,००० मकान और दुकानें और बनेंगी। इनके लिए दिल्ली दरवाजे तक पुरानी फसील को तोड़कर स्थान बनाया जा रहा है। इस मैदान का नाम रामलीला ग्राउण्ड है। यहाँ प्रदर्शनियों के समय या साल में एक वार दशहरे के दिनों में ही रौनक हुआ करती थी। अव भगवान ने चाहा तो वारह मासी रामलीला रहा करेगी।

सार्वजनिक सभायें भी यहाँ हुआ करती हैं। आजकल श्रोताओं को विज्ञापन या ढिंढोरे द्वारा जुटाना पड़ता है। भावी नेताओं को इस सम्बन्ध में सुविधा रहेगी। पूर्व सूचना के विना ही वे एक मेज और कुर्सी के सहारे अपनी इच्छानुसार जब चाहेंगे भाषण दे सकेंगे। उन्हें सुनने के लिए जनता हर समय उपलब्ध रहेगी।

दिल्ली में ये जो विशाल परिवर्तन हुए हैं—पहाड़ काटे गये हैं, जंगल साफ किये गये हैं, वीरानों में बस्तियाँ बसाई गई हैं, जहाँ चोर चोरी के वाद हिस्सा बांटते थे वहाँ विज्ञान की प्रगति के निमित्त प्रयोगशालायें वना दी गई हैं—इन सब परिवर्तनों को शुभ कहा जाय या अशुभ इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। जंगल साफ करना, सड़कें बनाना, वीरान को बस्ती में परिवर्तित करना, ये सब तो सभ्यता के लक्षण हैं। इसलिए जो कुछ हुआ ठीक ही समझिये। इस पर वादविवाद व्यर्थ है। जिस सनकी को सूखे टीले देखने का चाव हो या झाड़-झंकार से भरे वीरान में घूमने का शौक हो उसे दिल्ली छोड़ देनी चाहिये। उसके लिए देश में और अनेक स्थान हैं।

कुछ इधर-उधर की

दिल्ली की उथल-पुथल का परिणाम यही नहीं हुआ कि यहाँ से कुछ आदमी चले गये तथा और अधिक बाहर से आ गये, या नगर में कई बस्तियाँ बस गईं। गत दस वर्षों के परिवर्तनों से दिल्ली की जीवन-धारा में जो नवीनता आई है उसका यहाँ के रहन-सहन पर, रीति-रिवाजों पर, जीविकोपार्जन के साधनों पर और जनसाधारण के मनोरंजन पर काफी प्रभाव पड़ा है।

कई एक ऐसे पेशे हैं जिनके लिए दिल्ली प्रसिद्ध थी। वे पेशे जनसंख्या की अदला-बदली के कारण या तो बिल्कुल लुप्त हो चुके हैं या धीरे-धीरे मर रहे हैं। इसी सम्बन्ध में उस रोज कैलाश की कुछ मित्रों से चर्चा हो रही थी। मित्रों का कहना था कि गत तीन वर्ष के परिवर्तनों से दिल्ली के सामाजिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ देर तो कैलाश सभ्य आदमियों की तरह बहस करते रहे, पर कुछ क्षणों में ही दूसरे पक्ष की बातों से वे झल्ला उठे और अक्खड़-पन से बोले—"जनाब मैं आप से बहस नहीं करूँगा। मेरे सिर में दर्द हो रहा है। चलिये जो आप कह रहे हैं वही ठीक सही।"

उनके मित्र बहुत लज्जित हुए और अपनी उद्दंडता के लिए उनसे क्षमा-याचना करने लगे। वे समझे कि इस बहस के कारण ही कैलाश के सिर दर्द हुआ है। कैलाश ने तुरन्त उनके भ्रम का निवारण कर दिया—"अजी नहीं, अफ़सोस की क्या बात है। मेरे सिर दर्द का कारण आपसे की गई बातचीत नहीं है। यह सिर दर्द तो अब क्रौनिक (स्थायी रोग) हो गया है। जिस सिर की भूरे ने दस साल प्रेमपूर्वक मालिश और चम्पी की हो, वह अब सिवाय तड़पने के और कर ही क्या सकता है।"

कैलाश ठहरे दिल्ली के खानदानी रईस। भूरा उनके सामने

बल्लीमारान में रहता था। वह भी खानदानी नाई था। सिर चम्पी की कला में उसकी जोड़ का नाई शायद ही दिल्ली में कोई और हो। कई वार मुझे भी भूरे से मालिश कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। क्या चुटकियाँ और तालियाँ वजाकर मालिश किया करता था! दूसरे कमरे में वैठा कोई आदमी यही समझता कि तबले के साथ जलतरंग वज रही है। भूरा मर्दाना चम्पी करता था। कभी-कभी तो उँगलियों से माथे को ऐसा दबाता था जैसे ट्यूव को टायर के अन्दर डालते समय दबाना पड़ता है। पर इसकी भी एक विधि थी, एक कला थी। दूर से देखने वाले को भले ही यह धींगामुश्ती लगे, पर सिर के मालिक को इसमें अपूर्व आनन्द आता। कैलाश तो प्रायः सिर चम्पी कराते सो जाया करते थे।

'सिर चम्पी, तेल की मालिश'—ये मीठे शव्द शाम के समय दिल्ली के हर एक पार्क या वाग में सुनाई दिया करते थे। कन्धे पर तौलिया डाले, हाथ में तेलदान लटकाये, जिसमें दो या तीन रंग-विरंगी शीशियाँ होती थीं, भूरे खां के दर्जनों भाई दिल्ली के पार्कों में फिरा करते थे। उन लोगों को सिर चम्पी की कला पर पूर्ण अधिकार था। जिसने एक वार मालिश करा ली, वह कुछ दिनों वाद फिर कराने पर वाध्य हो जाता था। हर पार्क में दो-चार आदमी सिर चम्पी कराते दिखाई दिया करते थे।

यह कला मुसलमान वादशाहों के दिनों में उन्नति के शिखर पर थी। अँग्रेजी काल में भी कम-से-कम दिल्ली में इसका बरावर रिवाज रहा। प्रायः मुसलमान नाई ही इस कला में महारत रखते थे। ये लोग दिन भर आराम करते, सूर्यास्त के समय घर से बाहर निकलते थे और दस वजे तक एक से तीन रुपया तक जेव में डालकर वापस लौटते थे।

दिल्ली में आज सिर मालिश के शौकीन तो वहुत हैं, पर मालिश करने वाले वहुत कम रह गये हैं। अब पार्कों में गंडेरी वाले, कुलफी वाले और चना मूँगफली वेचने वाले ही अधिक भटकते दिखाई देते हैं। सिर चम्पी की आवाज वहुत कम सुनाई देती है।

एक और पुराना पेशा है जिस पर इन दिनों गहरा प्रहार हुआ है। वह है इतर-फुलेल का काम। दिल्ली के पुराने लोग चाहे कितने ही अच्छे कपड़े पहन लें, जव तक कान में इतर की फुरहरी नहीं डालते थे, अपनी पोशाक को अधूरा मानते थे। अमीर लोग ही इतर के शौकीन

हों ऐसी बात नहीं। गरीब लोग भी कभी-कभी इतर लगाने में ही मनोरंजन का आभास करते थे। यद्यपि इतर के शौकीनों की श्रेणी में सभी सम्प्रदायों के लोग शामिल थे, पर मुसलमानों को इससे विशेष लगाव था। दिल्ली में इतर की प्रायः सभी बड़ी-बड़ी दुकानें मुसलमानों की थीं। इतर की जितनी बिक्री मुसलमानी त्यौहारों के दिन होती उतनी और किसी अवसर पर नहीं होती थी। ईद के दिन तो अमीर गरीब सभी मुसलमान इतर की फुरहरी कान में लगा या एक बूँद अचकन पर छिड़क अपने आपको धन्य मानते थे।

अब दिल्ली इतर के व्यापारी और ग्राहक दोनों ही से रूठ-सी गई है। आज दिल्ली में विदेशी सुगन्धियाँ अधिक प्रचलित हैं और दिल्ली का परम्परागत इतर व्यापार समाप्त-प्राय है। अब बन्द पाजामे पर अचकन पहने, तनजेब की टोपी लगाये और पाओं में सलेमशाही कामदार जूती पहने बहुत कम आदमी मिलते हैं। यही वे लोग थे जो कानों को इतर से सुशोभित रखते थे। काला पम्प, मखमली किनारी की धोती और मलमल का चिना हुआ कुर्ता पहनने वाले अब भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। परन्तु इतर का इन्हें विशेष शौक नहीं। ये विलायती लैवेंडर से ही काम चला लेते हैं।

सदियों से दिल्ली का उपहार यहाँ का आचार मुरब्बा रहा है। आचार जितना स्वाद के कारण प्रसिद्ध था, उतना ही उत्सुकता और अपने वैचित्र्य के कारण भी रहा होगा। यहाँ का आचार साधारण आम, नींबू या गलगल का ही नहीं होता था। सारे उत्तर भारत में दिल्ली के आचार से अभिप्राय है बांस, आक के पत्तों, बबूल की फलियों, किरोंदों, केले के पत्तों, कद्दू के बीजों आदि के आचार से। देश के इस भाग में सभी जगह ब्याह-शादियों के अवसर पर भोजन के साथ दिल्ली के आचार का होना अनिवार्य माना जाता था।

यह व्यापार भी अब रसातल को जा पहुँचा है। शलगम गाजर, मूली जैसे पौष्टिक पदार्थों के आगे बांस और बीजों की क्या चलेगी। पाकिस्तान से आये हुए जवानों की दृष्टि में वैचित्र्य और तत्सम्बन्धी बारीकियों का कोई मूल्य नहीं। वे परिश्रमी जीव हैं, यथार्थ-वादी हैं। उन्हें पुष्टि चाहिये। और फिर लाहौर, रावलपिंडी, पेशावर आदि की आचार के सम्बन्ध में अपनी अलग परम्परायें थीं। पौष्टिकता के इस युग में केवल हरी तरकारियाँ ही तो शुद्ध रूप से उपलब्ध हैं। बाकी

सब तो बनावटी चीजें ही रह गई हैं। इसलिए यदि बबूल की फलियों का स्थान शलगम और गाजर ने ले लिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

दिल्ली का एक और पेशा है जो अब लुप्त हो चुका है। मुझे इसका दुःख है। अब कान की मैल निकालने वाले कहीं दिखाई नहीं देते। एक समय था जब ये लोग अपनी विशिष्ट वेशभूषा में दिल्ली में सभी जगह घूमते फिरा करते थे। खाली बैठे आदमियों के लिए, जिनके लिए समय काटना एक समस्या हो, ये लोग वरदान थे। जहाँ ऐसी समस्या उत्पन्न हुई वहाँ ये लोग आप-ही-आप पहुँच जाते थे, जैसे चींटियाँ मीठे पर आ जाती हैं। अदालतों में दस में से नौ आदमी तो बेकार ही रहते हैं, वहाँ इनका व्यापार बड़े जोर का चलता था। रेलवे के मुसाफिरखानों में जहाँ बरबस यात्रियों को गाड़ी पकड़ने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है, ये लोग अनेक मुसाफिरों के कानों की मैल निकाल उन्हें प्रसन्न करते थे। पिछले दिनों, १९४५–४६ में जब सेक्रेटेरियट खचाखच भर गया था, सरकारी दफ़्तरों में भी इनका काम अच्छा चलने लगा था।

कैलाश को और मुझे इन लोगों के चले जाने का विशेष दुःख है। कान की मैल निकाल कर तो ये लोग जनता-जनार्दन की सेवा करते ही थे, अपनी वेशभूषा के कारण ये राजधानी की शोभा भी थे। बन्द गले का सफेद पारसी कोट, चूड़ीदार बंद पाजामा और सिर पर लाल रंग की गोल बंधी हुई पगड़ी, जिसमें दोनों तरफ व्यापार के अस्त्र-शस्त्र खुडे होते थे। मुझे तो ये लोग पेशवा के दिनों की मराठा सेनाओं के सैनिक जान पड़ते थे। इतिहास की पुस्तकों में जो पोशाक हैदर-अली और टीपू सुलतान की दिखाई गई है, ठीक वही इन लोगों की होती थी।

इन लोगों के छाई-माई हो जाने का मुझे दुःख जरूर है, पर यह भी मानना पड़ेगा कि स्वतंत्र भारत की राजधानी में उन लोगों के लिए वास्तव में कोई स्थान नहीं रह गया। यदि वे लोग आज यहाँ होते भी, तो भूखों ही मरते। कान की मैल तो वह निकलवाये जिसे कम सुनाई देता हो। आजकल ऐसी शिकायत किसे हो सकती है, जब दिन भर समस्त राजधानी बैंड बाजे की तरह बजती रहती है। रेडियो और ग्रामोफ़ोन की दुकानें यहाँ पाँच सौ से कम नहीं। प्रत्येक दुकानदार

भोंपू लगाये हुए है। आप उसे कुछ कह ही नहीं सकते क्योंकि उसने सरकार से भोंपू का लैसंस ले रखा है।

और फिर इधर दिल्ली धर्मनिष्ठ होती जा रही है। जहाँ देखो कीर्तन और अखंड पाठ हो रहे हैं। ये लोग स्वार्थी होना पसन्द नहीं करते। जिनके पास कीर्तन में जाने का समय नहीं या जो स्वभाव से हरि-विमुख हैं, उन लोगों तक राम नाम पहुँचाना कीर्तन के आयोजक अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। इसलिए जगह-जगह लाउड-स्पीकर लगे हैं।

सो, कोई चाहे या न चाहे, कान अब दिल्ली में सभी के साफ रहते हैं। अब मैल निकालने वालों की यहाँ क्या आवश्यकता।

नये रंग नये धंधे

पंजाबी लोग दिल्ली में वर्षों से रह रहे हैं। नई दिल्ली बनने से पहले, इनका अनुपात यहाँ आटे में नमक के बराबर होगा। जिन दिनों नई दिल्ली बन रही थी तब और इसके बन चुकने के बाद यह अनुपात कुछ बढ़ गया। इसका कारण यह था कि अशिक्षित मजदूरों को छोड़कर शेष निर्माताओं में कम-से-कम तीन-चौथाई पंजाबी थे। फिर, उन दिनों भूमि भुस के भाव बिक रही थी। उपलब्ध भूमि का बहुत बड़ा भाग उन्होंने खरीद लिया और वे नई दिल्ली में ही बस गए।

यह सब होते हुए भी दिल्ली का रहन-सहन, यहाँ की सभ्यता और राजधानी का साधारण वातावरण दिल्ली वालों के ही अनुरूप था। बहुत-से पंजाबी परिवार तो यहाँ के लोगों में ऐसे घुल-मिल गये थे कि वे पंजाबी नाममात्र को रह गये थे। शेष परिवार जिनका अभी भी पंजाब से निकट का सम्पर्क था यहाँ के वातावरण को किसी प्रकार भी प्रभावित न कर सके, बल्कि स्वयं उन पर यहाँ के लोगों और परस्थितियों का ही प्रभाव पड़ा।

विभाजन के बाद जो कुछ हुआ वह ठीक इसके विपरीत था। दिल्ली के डेढ़-दो लाख आदमी चले गये और पश्चिमी पाकिस्तान से आठ लाख के करीब यहाँ आ गये। इससे स्थिति बिल्कुल बदल गई। दिल्ली का पक्ष कमजोर पड़ गया और बेचारे दिल्ली वाले पिचक गये। उनकी सभ्यता, रहन-सहन, बोल-चाल और रीति-रिवाज आगन्तुकों की भाषा तथा रिवाज के आगे फीके पड़ गये, इसलिए नहीं कि ये दिल्ली की बोली और रस्म-रिवाज से ऊँचे थे, बल्कि इसलिए कि सात और तीन में बड़ा अन्तर है। आगन्तुकों तथा दिल्ली के पुराने निवासियों में आज यही अनुपात है।

इस महान् परिवर्तन का सबसे बड़ा प्रतीक दिल्ली के महिला जगत की स्वतन्त्रता है। सार्वजनिक संस्थाओं, जलपान-गृहों और मनोरंजन के स्थानों में इतनी महिलायें पहले कभी नहीं दिखाई देती थीं जितनी आज।

पञ्जाब और सिन्ध की मध्यमवर्गीय महिलाओं में और दिल्ली की स्त्रियों में बड़ा अन्तर है। यहाँ की स्त्रियों की तुलना में वे अधिक स्वतंत्र, स्वस्थ और सुन्दर कही जा सकती हैं। स्वच्छन्द गति से विचरना और निर्भीकता से कनाट प्लेस में वायु सेवन करना उनका विशेष गुण है। यहाँ के स्त्री समाज पर इस गुण का काफी प्रभाव पड़ा है। गत दो वर्षों में दूसरे व्यापार चाहे मंदे पड़ गये हों, पर साबुन, तेल और शृंगार के उपकरणों का व्यापार दिन-प्रति-दिन तेजी पर ही है। पता लगा है कि १९४६ में इस सामग्री की जितनी खपत दिल्ली में थी, १९४७ में उससे २० प्रतिशत बढ़कर हुई। १९४८ में ८० प्रतिशत और बढ़ गई और १९४९ में तो १९४६ की अपेक्षा तिगुनी हो गई।

उधर दर्जियों के धंधे में भी बहुत उन्नति हुई। एक स्थानीय विशेषज्ञ के मतानुसार १९४९ में दिल्ली में दर्जियों की ३५०० दुकानें थीं। इनमें से प्रायः ३० प्रतिशत दुकानें केवल महिलाओं के कपड़े सीती थीं, ५० प्रतिशत दुकानें महिलाओं और पुरुषों दोनों के कपड़े सीती थीं और शेष २० प्रतिशत दुकानें ऐसी थीं जो केवल पुरुषों के ही कपड़े तैयार करती थीं।

मेरी अपनी जानकारी इस सम्बन्ध में अधिक नहीं। फिर भी मेरा मत है कि उपर्युक्त विशेषज्ञ का अनुमान अत्युक्तिपूर्ण नहीं। महिलाओं के वस्त्रों और तीव्र गति से बदलती हुई वेशभूषा को देखकर मेरा भी यही मत है कि आजकल कम-से-कम आठ-दस हजार दर्जी निश्चय ही दिन में आठ घंटे दिल्ली की महिलाओं के वस्त्र सीते होंगे।

यह बात मैंने आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं कही। एक सीधे-से तथ्य को शब्दों में रखा है। आर्थिक और पुनःसंस्थापन की दृष्टि से, निश्चय ही यह लक्षण शुभ है क्योंकि इन दस हजार दर्जियों में लगभग तीन-चौथाई तो शरणार्थी ही हैं। जिस फैशन के कारण हजारों परिवारों को काम मिलता हो वह कब किसी को अखरने लगा।

और तो सब ठीक है इस स्वतन्त्रता का प्रभाव दिल्ली की

बस सर्विस पर कुछ टेढ़ा पड़ा है। बसों में प्रायः ३२ सीटें होती हैं जिनमें से चार स्त्रियों के लिए रिजर्व रहती हैं। जिन दिनों १९४०-४१ में यहाँ बस सर्विस चली थी उस समय यही अनुपात ठीक समझा गया होगा। पर आज की स्थिति में यह अनुपात उपहासास्पद ही नहीं, महिलाओं के लिए अपमानजनक भी है। अनेकों वार मैंने बसों में महिलाओं और पुरुषों को बराबर-बराबर संख्या में देखा है। एक-दो बार ऐसा भी हुआ है कि एक बस में पुरुष चार और स्त्रियाँ अट्ठाइस थीं। अनुपात के इस उतार-चढ़ाव के कारण बसों में अब पुरुषों और स्त्रियों को समान अधिकार हैं। यह बात दूसरी है कि अपनी आदत से मजबूर पुरुष महिलाओं को बैठाने के लिए अपनी सीटें छोड़कर खड़े हो जाते हैं।

दिल्ली, विशेषकर नई दिल्ली, के होटलों और जलपान-गृहों का तो नक्शा ही बदल गया है। १९४७ से पहले दो-चार अंग्रेजी होटलों और जलपान-गृहों को छोड़कर जितने भी होटल यहाँ थे वे शुष्क, नीरस और निम्न श्रेणी के थे। भोजन, स्वच्छता और मनोरंजन का स्तर इनमें बहुत नीचा था। हिन्दुस्तानी भोजन तो इनमें ऐसा मिलता था मानो ये सब अंग्रेजी खाना बनाने वालों के एजेंट हैं और देशी भोजन करने वालों पर जुर्माना करना ही इनका धर्म है।

विभाजन के बाद स्थिति आन-की-आन में बदल गई। पुराने होटलों में से उसी रंग-ढंग के साथ एक भी न रहा। सभी या तो बदल गए या परिष्कृत हो गये। जहाँ देखो पेशावरी नान और पुलाव का बोलवाला है। सभी का साज-सामान बिल्कुल बदला है—नये मेज कुर्सी, नये बर्तन, दीवारों पर नई चित्रकारी और बेल-बूटे और नया गायन तथा वादन। आगन्तुकों ने होटल वालों को निराश नहीं होने दिया। इनमें से बहुत-से उनके पुराने ग्राहक थे और बहुतों ने नये जलपान-गृहों को अपना लिया। बात क्या, दिल्ली के छोटे-बड़े होटलों का ऐसा काम कभी जमा ही नहीं होगा जैसा आज जमा है। किसी भी अच्छे जलपान-गृह में चाय पीना आजकल खालाजी का घर नहीं। या तो पहले ही मेज रिजर्व कराया जाय, या फिर आदमी एक जगह से दूसरी जगह भटकने को तैयार रहे। रात्रि के नौ-दस बजे तक सभी में भीड़ रहती है।

बुरा लक्षण यह भी नहीं, क्योंकि दर्जियों की तरह होटल

वाले भी अधिकतर शरणार्थी ही हैं। इसलिए उन्हें प्रोत्साहन देना सभी का कर्तव्य है।

दिल्ली के कुछ भागों में घूमने-फिरने वालों को सड़कों के किनारे एक विचित्र चीज दिखाई देगी। वह है भड़भूँजे का भाड़। गोल मार्केट के आसपास इस तरह के कम-से-कम ६ भाड़ हैं। भुने चने तो लोग दिल्ली में सदा से ही खाते आये होंगे, पर आगन्तुक गर्म चने के शौकीन हैं। इसके अतिरिक्त शरणार्थियों में भड़भूँजे भी तो हैं। वे अपना पुराना काम क्यों छोड़ें।

शाम के समय विरला-मंदिर की तरफ चहलकदमी करते हुए रीडिंग रोड पर दाने भुनते देखकर बड़ा आनन्द आता है। इस दृश्य से मेरी तो ग्रामीण प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं। तब मुझे दिल्ली के निराशापूर्ण आकाश में भी आशा की किरण दिखाई देती है। नई दिल्ली की नीरसता, कृत्रिमता और निरर्थक औपचारिकता के वातावरण में ये भड़भूँजों के भाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं। मैं समझता हूँ यह उन ग्रामों का पुण्य-प्रताप है जिनकी कब्र पर नई दिल्ली की नींव रखी गई थी।

शरणार्थियों की वस्तियों में एक और नवीन चीज देखने को मिलती है। घरों के बाहर, जगह-जगह मिट्टी के तंदूर बने हुए हैं। शाम के समय अधिकांश लोग तन्दूर की रोटियाँ ही खाते हैं। इस रोटी में स्वाद अधिक और झंझट कम होता है। और ईंधन का खर्च तो न होने के बराबर ही है। हर बस्ती में कई पंचायती तंदूर भी हैं। कीर्तन और राशन की दुकानों के बाद सबसे अधिक भीड़ इन तंदूरों पर ही दिखाई देती है। गृहिणियाँ घर से आटा मलकर ले आती हैं। जितनी रोटियाँ बनवानी हों उतने पेड़े बना लेती हैं। पेडे लेकर तन्दूर वाला "भाई" दस मिनट में ही रोटियाँ उनके हवाले कर देता है, और पाँच रोटियों के पीछे एक आप रख लेता है। यही उसकी मजदूरी है। इन बस्तियों में बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो शाम के समय रोटी अपने यहाँ बनाते हों। घर में केवल दाल, सब्जी आदि तैयार करते हैं, और रोटियाँ तन्दूर पर लगवा लेते हैं।

ऐतिहासिक स्मारक या शरणार्थी घर?

दिल्ली अपने ऐतिहासिक स्मारकों के लिए सदियों से प्रसिद्ध है। इस नगर पर राजाओं और राज-परिवारों की प्राचीन काल से ही कृपा रही है। पांडवों ने यहाँ बहुत बड़ा दुर्ग बनाया था। कहते हैं कि उसी दुर्ग के भग्नावशेषों पर मुसलमान बादशाहों ने एक और किला खड़ा कर दिया जो पुराना किला कहलाता है। मुसलमानों को तो दिल्ली से विशेष प्रेम था। सभी समर्थ बादशाहों की यह इच्छा रही कि अपने जीते-जी दिल्ली में कम-से-कम एक स्मारक तो बनवा ही दें, जिससे इतिहास में उनका नाम अमर हो जाय।

दिल्ली को गत १० शताब्दियों से समस्त देश अथवा किसी छोटे-मोटे प्रान्त की राजधानी होने का संदिग्ध सौभाग्य रहा है—सन्दिग्ध इसलिए कि मध्यकाल में राजधानी का पद किसी भी नगर के लिए फूलों की सेज नहीं था। कम-से-कम राजधानी के निवासियों के लिए तो वह अधिकतर कांटों का ताज ही सिद्ध होता था। उन दिनों नगरों के लिए असाधारण सजधज इतनी खतरनाक थी जितनी काफिले के साथ चलनेवाले यात्री के लिए। जैसे यात्रियों को डाकुओं का डर होता है वैसे ही राजधानी को आक्रमणकारियों का था। इसीलिए राजधानी होने के नाते दिल्ली को मुसलमानी काल में दुःख अधिक और सुख कम मिला।

सुख के भागी तो आधुनिक दिल्ली के निवासी हैं। इन स्मारकों के कारण ही उत्तर भारत में दर्शकों के लिए दिल्ली का आकर्षण रहा है। दिल्ली के दर्शकों में सभी श्रेणियों के लोग शामिल हैं। स्कूलों के विद्यार्थी, जिनके लिए इतिहास राजाओं और उनके मंत्रियों की नीरस सूची से बढ़कर और कुछ नहीं, इन स्मारकों को देखकर प्रसन्न होने के साथ-साथ इतिहास का ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। जिसने हुमायूँ

के मकबरे में दो घण्टे विताये हों उसके लिए यह याद रखना सरल हो जाता है कि मुगल वंश में हुमायूँ का क्या स्थान था—वह किसका बेटा था, किसका पिता और किसका बाबा। बड़े बूढ़ों के लिए भी ऐतिहासिक स्मारक मनोरंजन का विषय हैं। इमारतों के अतिरिक्त खुले बाग और घने पेड़ों की ठंडी छाया कम-से-कम दिल्ली में इतनी सस्ती और कहाँ मिलेगी जितनी इन स्मारकों में। यदि कोई घुमक्कड़ दोपहर के समय फिरोजशाह कोटला, सफदरजंग, कुतब आदि जाने का कष्ट करे तो उसे शतरंज, चौपड़ और ताश के ऐसे खिलाड़ी मिलेंगे जिनसे टक्कर लेना आसान नहीं।

परन्तु यह पुराना किस्सा है। देश के विभाजन की छाया दिल्ली के विशालकाय स्मारकों पर उनके विस्तार के अनुपात से ही पड़ी है। जब लाखों शरणार्थी दिल्ली में आ घुसे तो नए-पुराने का भेद जाता रहा। मकानों की कमी ने ऐतिहासिक स्मारकों को ही घरों का रूप दे दिया। एक दृष्टि से यह ठीक ही हुआ। शरणार्थियों और इन स्मारकों में घनिष्टतम सम्बन्ध है। लाल-किला और कुतब-जैसे स्मारक यदि इतिहास की याद जीवित रखते हैं तो शरणार्थी लोग स्वयं इतिहास के निर्माता हैं। जो काम सम्पन्न बादशाहों ने विशाल स्मारकों के निर्माण द्वारा इच्छा से करने की चेष्टा की, वही कार्य ये असहाय लोग अनिच्छा से अपने घरों को छोड़ इन स्मारकों को आबाद करके कर रहे हैं।

गत सप्ताह मैं पुराने किले में गया। वहाँ अब कहाँ देवी का मेला और कहाँ वसन्त का दृश्य! यहाँ हर साल वसन्त के दिन मेला लगता था। दस बजे से लेकर दिन छिपे तक बड़ी रौनक रहती थी। उस दिन बसन्ती कपड़े पहने सैकड़ों परिवार पुराने किले में ही दोपहर का भोजन करते थे। कहीं पकौड़े तले जाते थे, कहीं बच्चे कबड्डी खेलते थे, कहीं वयस्क पतंग उड़ाते थे, कहीं तरुणियाँ बैडमिन्टन खेलने के बहाने दौड़ती-भागती दिखाई देती थीं और कहीं सनकी लोग हरी घास पर लेटे मन में कुछ सोचा करते थे। शाम के समय प्रेमपूर्वक सामूहिक जलपान होता था।

पुराने किले में १९४२ के वसन्त का मेला अन्तिम था। कुछ महीनों बाद ही इटालियन युद्धबन्दी इसमें ला इकट्ठे किये गये। तीन साल तक इस किले ने इन श्वेतांगी रणबांकुरों को शरण दी। युद्धबन्दियों से छुट्टी पा लेने के बाद पुराना किला तनिक संभलने लगा था

कि १६४७ में एक और मुसीबत आ गई। कई महीनों तक इसमें पाकिस्तान जाने के लिए उत्सुक हजारों मुसलमान रहते रहे। जैसे ही वे यहाँ से गये इसके विशाल-आँगन और अनगिनत कुठरियों पर नवागन्तुकों की दृष्टि पड़ी। इच्छा से या अनिच्छा से सैकड़ों शरणार्थी परिवारों ने पुराने किले में डेरे डाल दिये। साल भर तो ये लोग तम्बुओं और दीवार के साथ बनी हुई घुड़सालों में ही रहे। मकानों का अभाव बराबर बने रहने के कारण तम्बुओं के स्थान पर ईंटों के घर बना दिये गये।

मैं गत सप्ताह पुराने किले में प्रायः दो वर्ष बाद गया। इसके मैदान में इधर-उधर बिखरे घर मुझे ऐसे लगे जैसे किसी जबड़े में ऊबड़-खावड़ दाँत। मगर क्या किया जाय लोगों को सिर पर छत तो चाहिए ही। तम्बू भले ही देखने में सुन्दर लगते हों पर धूप और पानी से बचाव कहाँ कर सकते हैं!

हुमायूँ के मकबरे का हाल इससे भी बुरा है। यह दिल्ली का प्रसिद्ध पिकनिक स्थान था। रविवार के दिन यहाँ खूब भीड़ रहती थी। अब यह भी एक छोटा-सा शरणार्थी नगर बन गया है। यहाँ मकबरे में और आसपास की इमारतों में अनेक कमरे हैं। पास ही यमुना की तरफ एक नीली गुम्बदवाला मकबरा है जो हुमायूँ के हज्जाम का है। तीन वर्ष पहले जब दर्शक-लोग इसे देखते थे तो इस पर हँसा करते थे कि मुगल बादशाह भी बड़े सनकी थे जो नाई की सिरचम्पी से खुश होकर उसका मकबरा बादशाह के बगल में ही बना बैठे। परन्तु इस मकबरे के गुम्बद में जो चार परिवार सुख से रह रहे हैं वे बनानेवाले को सनकी नहीं दूरदर्शी समझते हैं। हुमायूँ के मकबरे में एक बच्चों का स्कूल है, एक छोटा-सा अस्पताल, कुछ दुकानें और एक राशन का डिपो। जहाँ प्रदर्शक भोले-भाले दर्शकों को चाव से मुगलों के अलिखित इतिहास की अनेक गाथाएँ बताया करते थे वहाँ आज टूटी खाटों पर बैठे बूढ़े शरणार्थी मूँज की रस्सियाँ बाटते दिखाई देते हैं।

सफदरजंग का हुलिया भी कम नहीं बदला। इस स्मारक के खुले बाग और हवादार मकबरे दर्शकों को बाध्य करते हैं कि वे सत्रहवीं सदी के निर्माताओं को उनकी दूरदर्शिता के लिए बधाई दें बस्ती की आधी आबादी बच्चों की है। अमलतास के डंडों से ये

बच्चे सदा खेलते दिखाई देते हैं। महिलाओं को एक दो दस्तकारी सिखा दी गई है। यह कैम्प केवल बच्चों और स्त्रियों के लिए है।

सफदरजंग में ठहरे हुए लोगों को आजकल लाजपत नगर ले जाया जा रहा है, किन्तु अपनी मर्जी से कोई नहीं जा रहा है। बाध्य होकर ही यहाँ से लोग पैर उठाते हैं। आशा है कि एक-दो महीने में सफदरजंग खाली होकर फिर से ऐतिहासिक स्मारक बन जायगा।

जब शहर से दूर स्मारकों का यह हाल है तो फिर फिरोजशाह कोटला का तो कहना ही क्या, जो दरियागंज के साथ लगा है! यहाँ खंडहरों और मैदानों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दो वर्ष हुए यहाँ सैकड़ों तम्बू लगा दिये गए थे जिनमें शरणार्थी जैसे-तैसे निर्वाह करते थे। फिर भी बहुत लोग खंडहर-रूपी घुड़सालों में जा घुसे थे। इन तमाच्छादित घुड़सालों में, जहाँ आक्रांता से लोहा लेने के लिए मुसलमान बादशाहों की फौजें इकट्ठी होती होंगी, आज विश्राम की खोज में शांति-प्रिय शरणार्थी परिवारों की पंक्तियाँ विराजमान हैं। पिछले साल तम्बुओं की जगह कच्ची बारकें बना दी गई थीं।

फिरोजशाह कोटला में एक सज्जन मेरे मित्र बन गए हैं। शिक्षा-दीक्षा से वह अध्यापक हैं और १२ साल तक पाकिस्तान में बच्चों को पढ़ाने के सिवा उन्होंने और कुछ नहीं किया। परन्तु हिन्दुस्तान में इन्हें दर्जी का काम पसन्द आया। आजकल अच्छी-खासी पतलूनें सीते हैं। उनका कहना है कि इन स्मारकों का भी एक मानवीय पहलू है। जहाँ मृत नरेशों और उनकी संतानों को स्थायी विश्राम का अधिकार है वहाँ क्या जीवित प्राणियों को अस्थायी विश्राम का अधिकार भी नहीं रहा? ऐसी बुलाकीदासजी की दलील है।

राजधानी के स्कूल

दिल्ली की एक कहावत है कि जिसने पढ़ाई पर सवा सेर नाज से अधिक खर्च किया वह बुद्धिमान नहीं। दिल्ली के निवासियों में प्रायः व्यापारी वर्ग के लोग ही थोड़ा-बहुत पढ़ते-लिखते थे। इनमें भी बहुतों की पढ़ाई मुंडी तक ही सीमित थी। यह मुनीमी भाषा १० दिन में आ जाती है। इसके लिए सवा सेर नाज की दक्षिणा थोड़ी नहीं।

खैर, यह तो पुरानी बात रही होगी। इधर बीसवीं सदी में कुछ सम्पन्न परिवार बच्चों को पढ़ाने लगे थे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि १० वर्ष हुए दिल्ली के स्कूलों और कालेजों में तीन-चौथाई विद्यार्थी या तो बाहर के थे या नई दिल्ली में रहने वाले सरकारी कर्मचारियों के बच्चे थे। दिल्ली के पुराने निवासियों में ऐसे लोग अधिक न थे जो अपने बच्चों को स्कूल में भेजते। बहुत से तो पढ़ाई से दूर ही रहना पसन्द करते थे और कुछ रईसी की परम्परा के अनुसार घर पर मौलवी या पंडित को बुलाकर बच्चों की शिक्षा की समस्या हल कर लेते थे।

कुछ भी हो दिल्ली के स्कूल कभी अच्छे नहीं माने गये। शिक्षा, खेल-कूद या व्यवस्था—किसी भी दृष्टि से यहाँ के स्कूल अच्छे नहीं कहे जा सकते थे। हाँ, ईसाई लोगों ने गिरजाघरों के साथ जो पाठशालाएँ खोल रखी थीं वे काफी अच्छी थीं। पर उनमें किसी भी श्रेणी के लिए पांच रुपये से कम फीस नहीं थी। इसलिए इन पाठशालाओं में, जिन्हें अंग्रेजी स्कूल कहा जाता था, इने-गिने अमीर लोगों के बच्चे ही पढ़ सकते थे।

प्रारम्भिक और प्राइमरी स्कूलों का हाल तो बहुत बुरा था। दो-चार को छोड़कर सभी प्राइमरी स्कूल एक ही कमरे में समा जाते थे। इनमें बहुत-से तो गन्दी और तंग गलियों में स्थित थे। १९४० में मैंने पुल बंगश के पास एक बच्चों का स्कूल किसी रईस के अस्तबल में देखा

है। छुट्टी की घंटी बजते ही जहां टाट पर बच्चे बैठते थे वहाँ रईस की फिटन लाकर खड़ी कर दी जाती थी। यह क्रम सालों चलता रहा।

इन स्कूलों में प्रवेश का कोई प्रश्न ही न था; जब चाहे कोई दाखिल हो सकता था। इनके दरवाजे बारहों महीने खुले थे। फिर भी साल भर में जितने नए लड़के आते थे लगभग उतने ही पढ़ाई बीच में छोड़ चले जाते थे।

युद्ध के दिनों में स्कूलों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। होता भी कैसे नहीं? बड़े लाट के दफ्तर को ही लीजिए। कहाँ तो युद्ध से पहले उसमें कुल मिलाकर छः हजार से कम आदमी काम करते थे और कहाँ १६४४ में सरकारी कर्मचारियों की संख्या ४० हजार से ऊपर हो गई। सभी वेतनभोगी लोग अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते थे। उन्हें शिक्षा का शौक था और उनमें सामर्थ्य भी थी। इसलिए लड़ाई के दिनों में स्कूलों का सूनापन खतम हो गया। प्रायः सभी स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ गई और नई दिल्ली तथा काश्मीरी गेट में तो स्कूलों की स्थिति में काफी सुधार भी हुआ। अब किसी-किसी स्कूल में भीड़ तक दिखाई देने लगी।

शरणार्थियों की बाढ़ आने पर दिल्ली के स्कूलों पर क्या गुजरी होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। यह कहना अत्युक्ति नहीं कि यदि दिल्ली के सारे स्कूल पञ्जाब और सिन्ध से आये हुए शरणार्थियों के लिए ही सुरक्षित कर दिए जाते, तो उनसे इन लोगों का भी पूरी तरह काम न चल पाता। ऐसी दशा में दिल्ली के स्कूलों की दयनीय अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जो पाठशालाएँ आठ लाख जन-संख्या के लिए ही काफी थीं, उनसे भला १६ लाख आदमियों का कैसे काम चल सकता है? और यह मामला खाली गणित का ही नहीं। पहले के दिल्ली निवासियों में और नवागन्तुकों में बहुत अन्तर है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है, दिल्ली में बहुत बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का था जो बच्चों को स्कूलों में भेजता ही नहीं था, किन्तु पाकिस्तान से भागकर आये हुए जिन भाइयों को हम शरणार्थी कह कर पुकारते हैं उनमें बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जो बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहते। इसलिए स्कूल जानेवाले बच्चों का अनुपात शरणार्थी वर्ग में दिल्ली के निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक है।

इन सब बातों के कारण गत दो वर्षों से दिल्ली के स्कूलों का

वही हाल हुआ जो बाढ़ के समय नदियों का होता है। दो महीने की अस्तव्यस्तता के बाद जब नवम्बर १६४७ में लोगों को बच्चों की पढ़ाई का ध्यान आया, तो उन्होंने नगर के सभी स्कूलों में शरणार्थियों को टिके हुए पाया। ज्यों-त्यों करके जनवरी १६४८ तक शरणार्थियों को इधर-उधर भेज सरकार ने स्कूलों की इमारतें खाली करवाई। स्कूल फिर से खुल तो गए, पर पढ़ाई के लक्षण तब भी नदारद थे। जिस स्कूल में २०० लड़के पढ़ते थे वहाँ ४०० जा पहुँचे और जिस कमरे में ३० विद्यार्थियों की जगह थी उसमें ५० से अधिक आ घुसे। ऐसे रेलमपेल में पढ़ाई का क्या काम? फिर भी जो कुछ हो सकता था किया गया। हरेक स्कूल में अधिक-से-अधिक विद्यार्थी दाखिल किये गए। जब इससे भी काम न चला तो स्कूलों में दो पालियों में पढ़ाई होने लगी—पहली पाली सुबह आठ से एक बजे तक और दूसरी दो से सात तक। सभी स्कूलों को चार चाँद लग गए। छुट्टी के बाद जहाँ मक्खियाँ भिनभिनाया करती थीं वहां चंचल लड़के-लड़कियों की चहल-पहल रहने लगी। रात के समय स्कूलों में बेरौनकी हो जाती हो, ऐसी बात भी नहीं। पढ़ाई का क्रम समाप्त होते ही दर्जनों शरणार्थी अपना-अपना चादर-तकिया बगल में दबा स्कूलों के बरामदों में या बाहर हरी घास पर लोट लगाने के लिए आ पहुँचते हैं।

साल भर तक यह सब कुछ चलता रहा। अभी भी प्राइमरी स्कूलों में स्थान का अभाव बहुत खटकता था। साहसी जीव तो शरणार्थी हैं ही; उन्होंने हर बस्ती में अपने स्कूल खोल दिये। उन्हें अपने रहने तक के लिए मकान नहीं मिल रहे थे, ऐसी दशा में स्कूलों के लिए इमारतों का प्रश्न ही कहाँ उठता था। खुले मैदानों में, घने पेड़ की छाया में, टीन या घास-फूस के छप्परों के नीचे, जहाँ भी जगह मिली वहीं बीस-पच्चीस बच्चों को इकट्ठा कर पढ़ाई का काम शुरू कर दिया गया। अबोध बालक और बालिकाएँ प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण प्रस्फुटित फूलों की तरह हँसती-खेलती दिखाई देती थीं। फिर भी उनके चारों तरफ का वातावरण उन्हें वास्तविक स्थिति का भान कराता ही रहता था। हवा का हर झोंका और मौसम की हर करवट बच्चों के लिए स्थान बदलने का आदेश लाती थी। सूरज के ऊपर चढ़ने के साथ बच्चे पेड़ों की खिसकती हुई छाया से लाभ उठाने के लिए थोड़ी-थोड़ी देर के बाद स्थान बदलते रहते थे। इन शोकातुर और उजड़े हुए व्यक्तियों की सरस्वती

के प्रति आस्था देखकर अनेक राही प्रेरित होते थे। स्वतन्त्र भारत के इन अध्ययनशील बच्चों को निहारने के लिए मुझे और कैलाश को दसियों बार साइकिल से उतर कर निर्निमेष खड़े रहने की प्रेरणा हुई है।

करोलबाग में जहाँ दो लाख से ऊपर शरणार्थी रहते हैं बीस से भी अधिक प्राइवेट स्कूल और कालेज हैं। इसी तरह पहाड़गंज, सब्जी-मंडी, लोदी रोड और दूसरी शरणार्थी बस्तियों में दर्जनों बच्चों और वयस्कों के स्कूल खुल गए हैं। इनमें सभी तरह के स्कूल शामिल हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका कोई निश्चित स्थान ही नहीं, जो गर्मियों में पेड़ों के नीचे और सर्दियों में खुले मैदान में लगते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो चार या अधिक कमरों के सुन्दर फ्लैट में हैं। प्राइमरी स्कूलों में कई एक अँग्रेजी ढंग के हैं जिनमें मांटेसरी और किंडर-गार्टन की पद्धतियों के अनुसार पढ़ाई होती है। बुनियादी शिक्षा के आधार पर भी कुछ स्कूल चल रहे हैं।

इन सभी स्कूलों में पढ़ाई का काम प्रायः शरणार्थी महिलाएँ करती हैं। ये शिक्षा केन्द्र अध्यवसाय और सहकारिता के जीते-जागते नमूने और निजी परिश्रम के फल हैं। इनमें से कोई भी सरकारी सहायता पर आश्रित नहीं। जहाँ इन पाठशालाओं से हजारों बच्चों की पढ़ाई का काम चल रहा है वहाँ इनके कारण दो-चार सौ शरणार्थी अध्यापकों और अध्यापिकाओं को काम भी मिल गया है।

वयस्कों की शिक्षा की समस्या कुछ नये स्कूल खोल कर और मौजूदा स्कूलों में दो पालियों की प्रथा चला कर हल करने की चेष्टा की गई है। किसी प्रकार काम चल रहा है, परन्तु यह निर्विवाद है कि छोटे-बड़ों की शिक्षा सरकार और दिल्ली नगर-पालिका के लिए अभी भी एक जटिल समस्या बनी हुई है। गगनचुम्बी महंगाई और यातायात का उचित प्रबन्ध न होने के कारण दस में से सात स्कूल छोड़नेवाले वयस्क स्थानीय विश्वविद्यालय को अपनी पहुँच से बाहर पाते हैं। जिनमें विश्वविद्यालय-प्रवेश का सामर्थ्य है वे भी सब स्थानीय कालेजों में प्रवेश नहीं पा सकते। इसीलिए दिल्ली में एक कालेज पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से चल रहा है। पिछले साल इस कालेज में ३,००० विद्यार्थी पढ़ते थे। यह कालेज एक स्थानीय स्कूल की इमारत में शाम के समय लगता है, क्योंकि दिन के समय वहाँ स्कूल के लड़के पढ़ते हैं। इसका नाम भी किसी ने ठीक ही रखा है। इसे कैम्प (शिविर) कालेज कहते हैं।

राजधानी के फेफड़े

राजधानी में पार्कों की कमी नहीं। जब से (१६३३ से) जामा मस्जिद के सामने का मैदान और लाल किले के साथवाली परेड-भूमि में हरी घास उगाई गई, तब से तो मानो दिल्ली को मुंह-मांगी मुराद मिल गई। हरी दूब से आच्छादित ये विशाल मैदान ठीक ही दिल्ली के फेफड़े कहे जाते हैं। उधर स्वर्गीय चौधरी छोटूराम की कृपा से जब से दूकानदारों और उनके गुमाश्तों को अनिवार्य रूप से सप्ताह में एक दिन की छुट्टी मिलने लगी, इन फेफड़ों की उपादेयता और भी बढ़ गई।

परेड-भूमि और जामा मस्जिद को छोड़कर दिल्ली में और भी अनेक शाही बाग हैं, जैसे कुदसिया बाग, रोशनारा बाग, फिरोजशाह कोटला आदि। ये सभी बाग एक-दूसरे से बढ़कर हैं। युद्ध से पहले ये सब सही अर्थों में दिल्ली के एकान्त बिन्दु थे। इनमें थोड़ी-बहुत रौनक प्रातःकाल होती थी जब रईस लोग फिटन में और स्वस्थ व्यक्ति पैदल सैर करते-करते इधर आ निकलते थे। सूर्यास्त का पर्व भी इन बागों में स्थित क्लबों में मनाया जाता था। किन्तु यह सारा व्यापार शान्तिमय होता था। दिन के समय कोई प्राणी भूला-भटका उधर जा निकलता तो उसे या तो माली आवारा समझ कर बाहर निकाल देता था या वह स्वयं ही सूनेपन से ऊब कर वहाँ से खिसकने की करता था। वास्तव में दिन के समय इन विशाल बागों और पार्कों का एकाकीपन सूनेपन से भी बढ़ कर भयानक था।

आज की (१६५० की) तो बात ही छोड़िये, युद्ध के दिनों में ही इन पार्कों का भाग्योदय आरम्भ हो गया था। सवेरे-शाम इनमें रौनक होने लगी थी और दिन के समय भी बेंच घिरे रहते थे। प्रातःकाल लोग मंडलियों में सैर करने आने लगे थे और शाम के समय युगल जोड़ियां हरी दूब पर विचरने या घर-गृहस्थी के झंझट से मुक्त

हो शांतिपूर्ण एकान्त में बैठ कर बात करने के लिए इधर आने लगी थीं। क्लबों की रौनक को भी चार चांद लग गये थे। पहले इन बागों के क्लब अदृष्ट-से थे और कालर बटन की तरह एक कोने में छिपे थे। १६४२-४३ में क्लबों का सूनापन जाता रहा। सदस्यों की संख्या बढ़ गई। बहुत-से जीवट के लोग नियमपूर्वक क्लबों में जाने लगे। आसपास सैर करनेवालों को दूर से ही क्लबों के अस्तित्व का प्रमाण मिलने लगा।

१६४६-५० का तो कहना ही क्या! युद्धजन्य परिस्थितियों ने यदि बागों और पार्कों के सूनेपन पर प्रहार किया तो विभाजनोत्तर परिस्थितियों ने वहां के एकान्त को एकदम समाप्त कर दिया। जैसे मूसलाधार वर्षा में आदमी जो हाथ लगे उसी को सिर पर रखकर पानी से बचने का प्रयत्न करता है, ठीक वैसे ही शरणार्थियों की बाढ़ के दिल्ली में आने के बाद सभी खुले और हवादार स्थानों का एक ही उपयोग दिखाई देता था, वह यह कि अधिक-से-अधिक शरणार्थियों को वहाँ टिकाया जाय। कुछ दिनों के बाद अधिकांश पार्कों की काया पलट गई। वे सब ऐसे दिखाई देने लगे जैसे कभी-कभी गाँव की चरागाहें दिखाई देती हैं जब उनमें खानाबदोश लोग अपने डेरे डाल देते हैं।

बागों और पार्कों में कई महीने तो तम्बुओं तथा छोलदारियों का जमघट रहा। १६४८ के आरम्भ में पार्कों में छटनी शुरू हो गई। इसके लिए मौसम की क्रूरता इतनी ही जिम्मेदार थी जितनी बेघर लोगों द्वारा नये-पुराने मकानों की उपलब्धि। जो लोग पार्कों में रह भी गये उनके सिर पर अब तम्बुओं की जगह घरौंदे या खपरैलें थीं। उन भागों को छोड़कर जो निवासस्थान में परिवर्तित हो गये थे, पार्कों के शेष भाग में फिर से रौनक होने लगी। ६ महीने के आलस्य के बाद घुमक्कड़ों ने फिर सैर शुरू कर दी। सुबह-शाम बागों में पहले से भी अधिक भीड़ होने लगी। क्लबें तो सावन में बरसाती नालों की तरह लबालब भर गईं। मैदानों की हरी घास पर सूर्यास्त के बाद सैकड़ों नर-नारी बाल-बच्चों समेत सुस्ताते दिखाई देने लगे। इन लोगों में ऐसे बहुत कम थे जो मनोरंजन या वायुसेवन के लिए घर से निकलते हों। अधिकांश ऐसे थे जो अपने घरों की अपेक्षा पार्कों को ही अधिक साफ और आकर्षक पाते थे। इन लोगों में से बहुत-से बातें करते-करते पार्कों में ही सो जाते थे।

यह स्थिति १६४८ के साथ समाप्त हुई। १६४६ के आरम्भ से ही सुधार के लक्षण दिखाई देने लगे। पार्कों की देख-रेख में भी सुधार हुआ, फिर से लोगों को फूलों के दर्शन होने लगे, यद्यपि अब भी ऐसे साहसी लोगों की कमी नहीं थी जो पार्क को जंगल समझ तामलोट हाथ में ले मुँह-अंधेरे ही उधर जा निकलते थे। नगरपालिका ने इस कठिनाई का भी सुन्दर हल खोज डाला। प्रत्येक पार्क में पुरुषों और महिलाओं के लिए अलग-अलग स्वच्छ टट्टियों की व्यवस्था कर दी गई।

गत वर्ष मेरे एक मित्र बम्बई से आये हुए थे। आठ दिन मेरे पास ठहरे। एक दिन जोशीजी प्रातःकाल मेरे साथ घूमने चले गए। सैर से वापस आते हुए कुछ देर के लिए हम अजमलखां पार्क में बैठ गये। जोशीजी को यह पार्क पसन्द आया। बोले—"दिल्ली इतना बुरा शहर तो नहीं जितना लोग कहते हैं। करोल बाग में यदि भीड़ है तो कमेटी ने उसके मध्य में एक विशाल पार्क की व्यवस्था भी कर रखी है। इस सुन्दर फेफड़े को पाकर करोल बाग के लोगों को निश्चय ही अपने आपको धन्य समझना चाहिए।"

मैंने जोशीजी की हां-में-हां मिलाना ही उचित समझा। कुछ देर बाद अभ्यागत महोदय की दृष्टि पार्क के दरवाजों पर बने छोटे-छोटे भवनों पर गई। वे बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि जान पड़ता हैं कमेटी ने छोटे-छोटे क्लबों की भी व्यवस्था कर रखी है। मैंने कहा—"जी हाँ, इतनी सूझबूझ तो कमेटी में है ही, परन्तु यह एकान्त क्लब है जिसमें एक समय में एक ही व्यक्ति जा सकता है और वह भी यदि उसके पास डिब्बे या गड़वे में पानी हो।" जोशीजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"यह खूब रही, टट्टियाँ बनानी थीं तो उनके लिए पार्क ही मिला था!" मैंने कहा—"महाशय, इसमें कमेटी का कोई दोष नहीं। कुछ महीने हुए यह सारा पार्क ही एक विशाल शौचागार बन गया था। कमेटी ने एक महान् शारीरिक आवश्यकता को महसूस करके और पार्क के कोनों में शौचागार बना कर निस्सन्देह असाधारण सूझ का परिचय दिया है।"

परन्तु आज स्थिति इतनी बुरी नहीं। लोगों में अब नागरिकता की भावना का संचार होता साफ दिखाई दे रहा है। पार्कों के चारों ओर जो खाइयाँ बनी हैं उनमें शायद बच्चे या नासमझ लोग "बैठे" मिलें, वरना पार्क अब इस गन्दगी से मुक्त हैं। पुरानी दिल्ली

के पार्क अब व्यायामशाला का रूप धारण कर चुके हैं। प्रातःकाल इन पार्कों में कसरत करनेवालों का जमघट होता है। हाँ, शाम के समय गप लड़ाई जाती है। रामायण और महाभारत की कथा भी नियम से होती है।

मैं पार्क एरिया में रहता हूँ। मेरे फ्लैट के सामने अजमलखां पार्क है। इस विशाल पार्क और मेरे घर के बीच केवल एक सड़क है। आजकल हम लोग ऊपर छत पर सोते हैं। जब ५ बजे के करीब मेरी आँख खुलती है तो सामने पार्क में मुझे जो कुछ दिखाई देता है वह इस प्रकार है:—

पार्क के ठीक बीच में १५-२० बूढ़े लोग दरियों या चटाइयों पर लेटे हुए आसन कर रहे हैं। दाईं ओर संघ की शाखा लगी हुई है और उनका ध्वज फहरा रहा है। जरा और दूर कोने में १५ वर्ष तक की उम्र के लड़के दौड़ भाग रहे हैं या कबड्डी खेल रहे हैं। बाईं ओर चार-पाँच व्यक्ति सिर के बल खड़े हैं, अर्थात् शीशासन कर रहे हैं। पास ही दस कदम पर दो-तीन जवान कपड़ा बिछाकर लंगोट पहने लेटे हैं और सारे शरीर की मालिश करा रहे हैं। मालिश करनेवाला कभी उनकी छाती पर खड़ा होकर पांवों से फेफड़ों में तेल खपाता है और कभी घुटनों से अपने "रोगियों" की पीठ ठोंकता है। शरीर के सभी अंगों को वह इतने जोर से थपकता है कि आसपास के सभी लोग थपकी के शब्द को सुन सकते हैं। सामने पार्क के दूसरे सिरे पर वौलीबौल का नेट लगा है और बच्चे-बूढ़े सभी खेलने में व्यस्त हैं। आठ-दस आदमी विभिन्न गतियों से पार्क की परिक्रमा कर रहे हैं।

यह तो था प्रातःकाल का दृश्य। अब सुनिये सांयकाल की बात। प्रायः सूर्यास्त होने के कुछ पहले अजमलखां पार्क में फिर से भीड़ हो जाती है। सबसे अधिक शोर और भीड़ तो पार्क के उस भाग में होती है जो बच्चों का पार्क कहलाता है। पार्क के केन्द्र में थोड़ी-थोड़ी दूर पर तीन जगह ५० से ७० तक की संख्या में स्त्री-पुरुष जुटे हैं। श्रोतागण हरी घास पर बैठे हैं और उपदेशक सीमेंट के बैंच पर या लकड़ी की चौकी पर बैठे धर्मोपदेश दे रहे हैं। कथा चाहे रामायण की हो अथवा महाभारत की, उपदेशक महाशय घुमा-फिराकर पाकिस्तान की उत्पत्ति और देश के विभाजन का उल्लेख कम-से-कम एक बार अवश्य करते हैं। तीनों में से एक उपदेशक वीतराग सिख

सन्त हैं जो यथावसर गुरुओं की वाणी का सस्वर उच्चारण करते हैं। हरद्वार में हर की पौड़ी का-सा दृश्य करौल बाग के इस पार्क में देखने को मिलता है।

सात-आठ बजे तक सारा पार्क भर जाता है। अनेक परिवार यहाँ बैठ कर ही भोजन करते हैं। आइसक्रीम, आलू-छोले और दही-बड़े की खूब बिक्री होती है। इस सारी सायंकालीन गतिविधि में महिलाओं का अनुपात पुरुषों से कम नहीं होता।

लगभग यही कार्यक्रम दरियागंज के एडवर्ड पार्क में, रोशनारा बाग में और दूसरे छोटे-बड़े पार्कों में रहता है।

युद्ध से पहले जो स्थिति थी उससे सहज ही आज की स्थिति की तुलना की जा सकती है। पहले जहाँ कुछ लोग हाथ में तीतरों का पिंजरा लटकाये या दुम्बे की रस्सी थामे घूमते दिखाई देते थे आज-कल वहाँ युवक और वृद्ध विधिपूर्वक व्यायाम करते या नाक से फूल लगाये टहलते दिखाई देते हैं। पहले वायुसेवन तथा घूमना-फिरना अधिकतर पुरुषों के लिए ही उपयोगी माना जाता था, अब बच्चे और महिलाएँ इस काम में पुरुषों से पीछे नहीं। वास्तव में दिल्ली के ये पार्क पहले आँख की तुष्टि के साधन से बढ़कर और कुछ नहीं थे। आज ये राजधानी की गुंजान आबादी के लिए फेफड़ों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

न वह खान-पान, न रीति-रिवाज

कटरा नील के निवासी मेरे पुराने मित्र कैलाश चन्द्रजी का सदा यह आग्रह था कि जब कभी मेरा दिल्ली आना हो मैं उन्हीं के यहाँ ठहरूँ। मुझे भला क्या आपत्ति हो सकती थी? एक तो कैलाशजी का घर इतना बड़ा और सुन्दर था कि उसे सभी हवेली कहा करते थे और दूसरे कटरा नील रेलवे स्टेशन से चार कदम पर है। इसलिए मैंने सदा उनके आग्रह का सधन्यवाद स्वागत किया।

१९३५ में एक बार दिल्ली आना हुआ। मई का महीना था, गजब की लू चल रही थी। आठ बजे के करीब मैं कैलाशजी के घर पहुँचा। नहाने और खाने से निवृत्त हो दस बजे ही मुझे बाहर जाना पड़ा। फिर मैं एक बजे के करीब घर लौटा। कैलाशजी अपनी बैठक में सफेद चांदनी पर बैठे मेरी राह देख रहे थे। १५-२० मिनट पंखे के नीचे बैठने के बाद जब कुछ जान-में-जान आई तो मैंने पीने को पानी मांगा। कैलाशजी ने खिड़की की तरह मुँह करके ऊँची आवाज़ लगाई —"लड़के, दो ठंडे गिलास पीने को लेते आओ।" कुछ देर के बाद एक लड़का दो गिलास बादाम की ठंडाई के ले आया। उसे पीते ही मेरी सब गर्मी शांत हो गई। थोड़ी देर के बाद कैलाशजी ने अपने पीने के लिए भी कुछ मंगाया। और फिर वही बादाम की ठंडाई आई।

मैंने चकित हो अपने मित्र से कहा—"क्या आपके यहां दिन-भर बादाम ही रगड़े जाते हैं? जब देखो तब पांच मिनट के नोटिस में ठंडाई का गिलास चला आता है।"

कैलाशजी हँसकर बोले—"घर में बादाम रगड़ने की क्या जरूरत है? मुहल्ले में जितने तंबोली और शर्बतवाले हैं, सभी के यहाँ शाम के पांच बजे तक ठंडाई मिल सकती है।"

१९३५-३६ तक भी दिल्ली में गर्मी के मौसम में बादाम की ठंडाई ही सबसे अधिक लोकप्रिय पेय था। जहां आजकल पनवाड़ियों और शर्बतवालों की दूकान पर सोडावाटर की लाल और हरी बोतलें ही दिखाई देती है, वहां पहले दिन में हर समय बादाम भीगे रहते थे। ग्राहक के आते ही वे लोग तुरन्त बादाम रगड़ कर ठंडाई तैयार कर देते थे। कई दूकानों पर खस, फालसा, बादाम, नीलोफर आदि का शर्बत भी मिलता था, किन्तु जहां तक मुझे याद है, सोडावाटर का बहुत ही कम प्रचार था।

कैलाशजी भी आजकल आये-गये को सोडावाटर ही पिलाने लगे हैं। पिछले दिनों जब मेरे आगे उन्होंने अर्गवानी रंग का गिलास पेश किया तो मैंने पीने से इन्कार कर दिया और बादाम की ठंडाई की मांग की। कैलाशजी ने कहा—"मगर देखो मित्र, कुछ देर रुकना पड़ेगा। वे दिन दूर हुए जब तंबोली बादाम रगड़ा करते थे। अब तो घर में बादाम तोड़कर भिगोने पड़ेंगे और जब छीलने लायक हो जायंगे, तभी ठंडाई बन सकेगी।"

मैंने दुःख-भरे स्वर में पूछा—"ऐसा क्यों ? क्या बादाम भी घी की तरह देश से काफूर हो गये हैं ?" उत्तर मिला—"आप भी अजीब बात करते हैं, आजकल बादाम कौन पीता है ? आजकल तो गैस-भरी सोडावाटर की बोतल का ही रिवाज है। इस छोटे से मुहल्ले में ही सोडावाटर की चार मशीनें हैं। झट से बोतल खोली और गिलास में उंडेलकर ग्राहक के हवाले की। बादाम रगड़ने का झंझट आजकल कौन करता है ? एक-दो पुरानपन्थी आजकल भी ठंडाई तैयार करते हैं, पर उनके पास मुश्किल से ही कोई ग्राहक फंसता है, क्योंकि बादाम की जगह वे भलेमानस खुमानी और आड़ू के बीज रगड़ने लगे हैं।"

बहस करना व्यर्थ समझ मैं अर्गवानी रंग का वह सोडावाटर चुपचाप पी गया। परन्तु मैं घंटों सोचता रहा कि इन दस-बारह सालों में ही दिल्ली कितनी बदल गई। ठंडाई और जलजीरे का ही चलन नहीं उठ गया, खान-पान और आवभगत के तरीकों में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया है। पहले सुबह होते ही सब लोग गर्म कचौरी या बेड़मी और हलवे का नाश्ता करते थे। एक तरह से अच्छा ही हुआ जो यह चलन अब नहीं रहा। अगर आजकल कोई नियम से

बाजार का हलवा और बेड़मी या कचौरी खाये तो बेचारा दिन भर नमक के गरारे करता फिरेगा। आजकल सभी खाते-पीते आदमी मुँह-हाथ धोते ही टोस्ट के साथ चाय पीना पसन्द करते हैं। मध्यम श्रेणी के लोगों को छोड़िये, गरीबों तक के घरों में डबल रोटी और चाय पहुँच गई है। मुझे अच्छी तरह याद है लड़ाई से पहले कटरा नील में सबसे पहले हलवाइयों की दूकानें खुल जाया करती थीं, क्योंकि उन्हें मुहल्ले भर के लिए नाश्ता तैयार करना होता था। अब वह स्थान छोटे-छोटे होटलों और चाय-घरों ने ले लिया है। नवागंतुक शरणार्थी भाइयों में अब तक काफी ऐसे हैं जो सवेरे के समय दही की लस्सी पीने का आग्रह करते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि धीरे-धीरे इन लोगों को भी दही का पीछा छोड़ चाय के प्याले पर ही संतोष करना पड़ेगा।

दिल्ली के परांठे तो सचमुच ऐसे गये जैसे गधे के सिर से सींग। एक समय था जब लोग परांठेवाली गली में तैयार हुए परांठे चाव से खाते ही नहीं थे बल्कि दो-चार रूमाल में बांधकर घर भी ले जाते थे। अब परांठे का चलन नहीं के बराबर है, इतना कम कि देर-सबेर नगरपालिका को इस गली का नाम बदलना पड़ेगा।

दिल्ली का एक और तोहफा यहां की चाट हुआ करती थी। मुझे अनेक दिन ऐसे याद हैं जब भोजन के स्थान पर मैंने चाट से पेट भरा। जेब में पैसे हों, तन्दुरुस्ती ठीक हो और चांदनी चौक में चाट खाने बैठ जाओ, तो फिर उठने का क्या काम ? ऐसी यहां की कहावत थी। आजकल शिष्टाचार का स्तर कुछ ऊँचा हो गया है। चाटवाले की दूकान पर बैठना लोग अच्छा नहीं समझते। शरीफ आदमी वही है, जो साफ-सुथरे जलपान-गृह में बैठकर नाश्ता करे। जो साहसी जीव हैं और अब भी दूकान के या रेड़ी के सामने खड़े होकर खाने का दम रखते हैं, उन्हें भी चाट से विशेष प्रेम नहीं। वे आलू-छोले और छोले कुलचे अधिक चाव से खाते हैं। शरणार्थी जवानों ने अपना रिवाज यहां भी नहीं छोड़ा। उनके लिए जगह-जगह शामी और सीख कबाब मौजूद हैं।

यह तो रही खान-पान की बात, सामाजिक रीति-रिवाज में जो अदला-बदली हुई है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं। गत वर्ष मुझे एक मित्र के यहां उन्हें बधाई देने के लिए जाना पड़ा। उनके यहां

पुत्र का जन्म हुआ था। वहां और भी कई लोग विराजमान थे। किसी ने बिस्कुटों का डिब्बा भेंट किया, किसी ने चांदी का झुंझना, परन्तु बहुतों ने दो रुपये से दस रुपये तक नकद भेंट किये। मेरे वहां पहुँचने के कुछ देर बाद ही एक खानदानी दिल्लीवाले आ पहुँचे। सफेद रूमाल से ढकी हुई तश्तरी उन्होंने पेश की। नवजात पुत्र के पिता ने कुतूहलवश तश्तरी पर से रूमाल उठाया। तश्तरी में कुछ पान, आठ—दस साबुत सुपारियां और थोड़े से बादाम थे। मुझे यह देखकर बहुत खुशी हुई, क्योंकि मैं दिल्ली के रिवाजों से परिचित था। परन्तु और सब लोगों के माथे पर बल पड़ गये। एक साहब ने तो हंसी में कह ही डाला—"वाह साहब, खूब तोहफा लाये हैं। आपने नाहक तकलीफ की। इन बादामों और सुपारियों को कौन तोड़ता फिरेगा।" मुझे यह बुरा लगा। मैंने सब लोगों को दिल्ली के रस्म-रिवाज समझाने की चेष्टा की और बताया कि गरीब से लेकर राजा तक के यहां पुत्र-जन्म के समय दिल्ली में पान-सुपारी ही भेंट करने का रिवाज रहा है। मेरे स्पष्टीकरण का उन लोगों पर जो प्रभाव पड़ा उसके बारे में मुझे कोई भ्रम नहीं। वे लोग दो या पांच रुपये के नोट के ही कायल थे।

ब्याह-शादियों में, नामकरण आदि उत्सवों के अवसर पर आजकल दिल्ली में जो कुछ होता है उसमें और दिल्ली के पुराने रिवाजों में बहुत कम मेल है। पहले हाथ की बनी चीजें, कामदार कपड़े, सुन्दर चांदी के या मुरादाबादी बर्तन, देशी शृंगारदान, इत्रदान आदि-आदि चीजें भेंट करने का रिवाज था। आजकल मुद्रा पर ही जोर है। अपने-अपने वित्तानुसार सब लोग नक़द रुपया देकर ही पीछा छुड़ा लेते हैं। लेनेवाले को भी इसी में सुविधा है।

आजकल दिल्ली में कौन से रिवाज प्रचलित हैं और कैसा खान-पान है—इसके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं। आजकल तो दिल्ली भानमती के कुनबे से कम नहीं। देश के किसी भी कोने में जो रिवाज है वही दिल्ली में भी मिलेगा। अब दिल्ली एक महान नगर है। यह महानता इसने अपनी विशेषताओं को खोकर पाई है।

यातायात के साधन

यों तो मेरा दिल्ली आना-जाना तीस वर्ष से रहा है, पर पहली वार यहाँ आठ दिन तक ठहरने का अवसर मुझे १६३१ में मिला। एक मित्र के छोटे भाई की शादी थी। सौ आदमियों की वारात गाँव से चली। इसी में मैं भी शामिल था। उन दिनों कालिज में पढ़ता था। दुर्गा-पूजा की छुट्टियों में घर आया हुआ था। दिन अच्छे थे। आजकल के विपरीत उस समय निमंत्रण स्वीकार करना ही शिष्टाचार माना जाता था। और फिर लड़के वाले को खुली छूट होती थी, चाहे जितने वाराती बटोर लाये।

गाँव से अम्बाला छावनी तक हम वैलगाड़ियों में आये और वहाँ से दिल्ली के लिए रेलगाड़ी में सवार हुए। अगले दिन सवेरे दिल्ली स्टेशन पर आ उतरे। लड़की वालों ने स्वागत किया और हम ताँगों तथा इक्कों में बैठ बाजे वालों के पीछे-पीछे जनवासे की ओर चल दिये। लड़की वाले तो सभी को ताँगों में बिठाना चाहते थे, पर तीस तांगे कहाँ से इकट्ठे करते। कुछ इक्के भी लेने पड़े। मैं तो इलाहाबाद में रहने के कारण इक्कों से खूब परिचित था, परन्तु गाँव के बहुत-से लोगों ने यह विचित्र यान जीवन में पहली वार ही देखा था। इक्कों के दर्शन कर बड़े हँसे। सब कहने लगे—"ये शहर वाले भी खूब मनचले हैं। यह देखिए इन्होंने वहली में घोड़ा जोत रखा है।"

वारात दिल्ली में चार दिन ठहरी। दिन-भर पैदल चलने वाले देहातियों ने जमीन पर पाँव रखने की कसम खा ली। ये लोग जहाँ जाते इक्के या ट्राम बिना बात न करते। जो शौकीन-तबियत थे वे तांगे या दो घोड़ों की वग्घी की खोज में रहते। इधर १०-१२ सालों से इक्कों और दो घोड़ों की बन्द बग्घियों का रिवाज दिल्ली से बिल्कुल

उठ गया है। १६३८ से पहले इनका अच्छा चलन था। जब सामान अधिक होता था या महिलाएँ साथ होती थीं तो लोग बन्द बग्घी में बैठना पसन्द करते थे। ऊपर छत पर सामान लाद दिया जाता था और अन्दर सवारियाँ बैठ जाती थीं।

उन्हीं तीन दिनों में हम लोगों ने कई बाजारों में आती-जाती ऊँट गाड़ियाँ भी देखीं। कुतूहलवश हमारे बहुत-से साथियों ने इनमें भी सवारी की। एक दिन तो इसी ऊँटगाड़ी के कारण अनर्थ होता-होता बच गया। हमारा नाई, रामस्वरूप पहले ही दिन नाश्ता कर चार साथियों को साथ ले ऊँटगाड़ी पर सवार होकर कुतुब देखने चला गया। भलामानस न तो इस गाड़ी की रफ्तार से परिचित था और न ही यह जानता था कि कुतुब कितनी दूर है। मुश्किल से सूरज छिपे तक लौट कर आया। बिना नाई के ब्याह का सारा काम रुका पड़ा था।

सबसे विचित्र सवारी जो हम लोगों ने दिल्ली में देखी वह थी डोली—एक छोटी-सी तम्बू की शकल की चीज जिसे चार आदमी कंधों पर उठाते थे। इसे देखकर भी कइयों के मुँह में पानी आया परन्तु कहारों ने यह कहकर दुत्कार दिया कि पहले घर जाकर लहँगा पहनो या साड़ी बाँधो। तब हम लोग समझ गये कि यह यान अतिरिक्त रूप से महिलाओं के लिए सुरक्षित है। चाँदनी चौक के दोनों तरफ गलियों में और यमुना जी के रास्ते में हमने बहुत-से डोली वालों को देखा। जब ये लोग थक जाते थे तो अपना "बोझ" सड़क के किनारे उतार कर बीड़ी पीने लगते थे।

सवारी के इन साधनों से बारातियों का तीन दिन तक अच्छा मनोरंजन रहा। बारात वापस चली गई, परन्तु मैं दिल्ली में ही रुक गया। बारात विदा होते ही मैं जनवासे से अपने मित्र कैलाश के घर चला गया। मेरे एक चचा बहादुरगढ़ में अध्यापक थे। मैंने उन्हें एक पत्र द्वारा दिल्ली बुलाया था और उनके साथ बहादुरगढ़ जाने का विचार था। पत्र पाते ही वे दिल्ली आ गये और शाम के समय मुझे कैलाश के घर पर आ मिले। उन्हें अगले दिन स्कूल में जाना था। इसलिए उनके आग्रह पर उसी रात को बहादुरगढ़ चलने का तय हुआ। दुर्भाग्य से हम लोग स्टेशन देर से पहुँचे और गाड़ी छूट गई। परन्तु चचा ने हिम्मत नहीं छोड़ी। बोले- "कोई परवाह नहीं। अब

हम ऊँटगाड़ी से चलेंगे। तुम्हारे पास बिस्तर तो होगा ही। हमारे गाँव की गाड़ियाँ दिल्ली से रात के दस बजे चलती हैं, सवेरे ६ बजे बहादुरगढ़ पहुँच जाती हैं।"

आनन्द से भर-पेट खाना खाकर हम लोग लाल किले के सामने जो मैदान है वहाँ आ गये। वहीं से गाड़ियाँ चलती थीं। हमने एक गाड़ी में बिस्तर लगा लिया और दूसरी गाड़ियों से पहले ही हमारी गाड़ी ने यात्रा आरम्भ कर दी। रास्ते में खूब बातें हुईं। बातें करते-करते हम दोनों सो गये। बड़े मजे की नींद आई। सवेरा हुआ तो आँख खुली। मैंने चचा को उठाया। उन्होंने घड़ी जेब से निकाली तो देखा सवा पाँच बजे थे। अभी बहादुरगढ़ दूर है—यह कह कर उन्होंने फिर मुँह ढाँप लिया और सो गये। मैं बैठा रहा। कुछ देर बाद मैंने देखा कि गाड़ी रुक गई। मैंने चचा को फिर जगाया और कहा कि बहादुरगढ़ आ गया। चचा एकदम उठते ही गाड़ी से नीचे फाँद गये। देखते क्या हैं कि हम लोग ठीक लाल किले के सामने सड़क के बीच खड़े हैं, जहाँ से पहली रात चले थे। अन्तर केवल इतना था कि पहले ऊँट का मुँह कश्मीरीगेट की तरफ था और अब दरियागंज की तरफ। चचा ने झल्लाकर गाड़ीवान को उठाया। वह भी देखकर हैरान हो गया। डरता हुआ बोला—"मास्टर जी, मेरा कोई दोष नहीं। ये बालदी लोग (डंगर चराने वाले) कभी-कभी बद-माशी करते हैं और ऊँट की रस्सी पकड़ कर ऊँटगाड़ी का रुख बदल देते हैं।"

ऐसी घटनाएँ, सुना है, पहले प्रायः हुआ करती थीं। परन्तु इनके कारण ऊँटगाड़ी की लोकप्रियता में कमी नहीं हुई। हाँ, एक अन्तर अवश्य पड़ा है। आजकल ऊँटगाड़ी में केवल अनाज और दूसरा माल ही ढोया जाता है। मुसाफिर रेल और लारियों द्वारा सफर करते हैं।

उन दिनों दिल्ली में आन्तरिक यातायात के साधन इक्के, तांगे, साइकिल और फर्शी टमटम ही थे। १६३८ के बाद इक्के एकदम गायब हो गये। यातायात का भार दूसरे साधनों पर पड़ गया। फिर भी १६४० में दिल्ली की स्थिति इतनी बुरी न थी। राजधानी उन दिनों कार्तिक मास में जलाशय की भाँति संयत थी, सीमित थी। फव्वारे से निजामुद्दीन ही शायद सबसे लम्बा सफर था। कश्मीरी दरवाजा

और नई दिल्ली के बीच एक बस चलती थी, किन्तु इसके अस्तित्व का पता या तो इसमें काम करने वालों को था या फिर उन अभागों को जो कभी अनायास इसकी लपेट में आ जाते हों। तांगे ही हर जगह मिलते थे। रेलवे स्टेशन से कनाट प्लेस तक सालम ताँगा छः आने में हो जाता था। आठ आने घण्टा के हिसाब से आप तांगे में जहाँ मर्जी घूम सकते थे।

आजकल की उलझनों और पेचीदगियों के सामने १६४० के जीवन में सतयुग की झलक दिखाई देती है। उन दिनों सभी निश्चिन्त जान पड़ते थे, आजकल सभी चिन्तातुर हैं, सभी उतावले हैं, सड़क पर डोलने का मानो किसी के पास समय ही नहीं है। आजकल दिल्ली -की पुण्य-भूमि पर हर समय १०० बसें विभिन्न दिशाओं में चक्कर काटती रहती हैं। हर एक बस का हर समय वही हाल होता है जो घाट से लौटते समय धोबी के बैल का। सभी खचाखच भरी होती हैं। न जाने हजारों आदमी, जिनमें स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं होती,—दिन-भर इधर-से-उधर कहाँ आते-जाते हैं।

सड़कों का रूप ही बदल गया है। जब देखो साइकिल वालों के झुंड-के-झुंड चलते दिखाई देते हैं। एक साहब का अनुमान है कि आजकल दिल्ली में इतनी साइकिलें हैं जितने युद्ध से पहले इस नगर में प्राणी बसते थे। तभी तो नगरपालिका को साइकिलों पर टैक्स लगाना पड़ा। इससे इस बढ़ती हुई सेना की कुछ तो रोकथाम होगी। क्या चाँदनी चौक और क्या नई दिल्ली, बड़ी दुकानों की आजकल एक ही पहचान है—उनके आगे साइकिलस्टैंड होना चाहिए और साइकिलों का झुर्मुट। जो हाल पहले सिनेमाघरों का था वह अब जलपानगृहों, किताबों की दुकानों और जूते बेचने वालों तक का है। सभी चलती दुकानों के सामने पाँच-सात साइकिलें धरी होती हैं।

कुछ भी हो राजधानी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है। इधर दो-तीन वर्षों से राजधानी में टैक्सियों का प्रचार बहुत हो गया है। पहले तो टैक्सी में विलायती फर्मों के एजेंट,दौरे पर आये हुए सरकारी अफसर या छोटी-मोटी रियासतों के रजवाड़े ही बैठते थे। या फिर अस्पताल जाने के लिए मरणासन्न रोगी टैक्सी को अपनाते थे, पर और कोई नहीं। अब वह बात नहीं रही। टैक्सी प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही है। इसीलिए अब वह नगर के हर भाग में गश्त लगाती

है जबकि पहले रेलवे स्टेशन और कनाट प्लेस में ही दिखाई देती थी। १६४० में दिल्ली में केवल १०० के करीब टैक्सियाँ थीं—अब एक हजार से ऊपर हैं। उन दिनों इनके स्वीकृत अड्डे आठ थे, अब चालीस से अधिक हैं।

इक्कों के गायब होते ही न जाने रिक्शा का प्रादुर्भाव कैसे हो गया। रिक्शा वाले की झनकार सुनते ही मुझे गाँव का डाकिया याद आ जाता है जो बड़े गर्व से घुंघरू खड़काता हुआ, कंधे पर डाक का थैला रखे छबीली चाल से डाकघर में प्रवेश किया करता था। परन्तु रिक्शा के उल्लेख से मुझे क्लेश होता है। दिल्ली की समतल सड़कों पर रिक्शा का क्या काम? यह तो पहाड़ पर ही शोभा देती है। मुझे पूर्ण आशा है राजधानी के नगरपालक इस बीमारी को अधिक नहीं फैलने देंगे।

आजकल दिल्ली की सब से नवीन और विचित्र सवारी मोटर-रिक्शा है। देश के कई और शहरों में भी इसका थोड़ा-बहुत चलन है। परन्तु दिल्ली को यह सवारी जितनी रास आई है उतनी किसी दूसरे शहर को न आई होगी।

इन तीन वर्षों में दिल्ली का विस्तार इतना हुआ है और अभी भी हो रहा है कि आश्चर्य नहीं यदि निकट भविष्य में दिल्ली राज्य और दिल्ली नगर की सीमाएँ एक हो जायें। इसीलिए सब लोग दिल्ली को लम्बे फासलों का शहर कहते हैं। ऐसे नगर में सवारी का विशेष महत्व है। ये सभी फासले तांगों के बस के नहीं। यहाँ की बसें सब जगह जाती हैं, परन्तु उनमें वही बैठ सकता है जो या तो छुट्टी पर हो या जिसे घंटों बे-मतलब लाइन में खड़े रहने का अभ्यास हो। सभी लोग ऐसे नहीं। साईकिल पर चढ़ना भी सब लोग पसन्द नहीं करते।

बसों और तांगों के बाद टैक्सी ही ऐसी सवारी है जिसमें सुख और गति दोनों मिल जाते हैं। परन्तु टैक्सी व्यय-साध्य है। हर आदमी इस पर भी नहीं चढ़ सकता, यद्यपि पहले की अपेक्षा इसका चलन बहुत बढ़ गया है।

ऐसे लोगों के लिए जो कमखर्च होते हुए भी सुख और गति के ग्राहक हैं मोटर-रिक्शा हाजिर हैं। यह तेज भी चलती है और टैक्सी जितनी महँगी भी नहीं। दिल्ली के लोग इसे प्रायः "सस्ती टैक्सी" कहते हैं।

यह नवीन सवारी यहाँ पहली बार १६४८ की शरद ऋतु में दिखाई दी थी। कुछ साहसी शरणार्थी इसके प्रवर्तक थे। शुरू में केवल एक दर्जन मोटर-रिक्शा ही से यह परीक्षण आरम्भ हुआ था। इस सवारी के लोकप्रिय होने में एक साल लगा। इस समय दिल्ली में २०० मोटर-रिक्शा हैं। सुना है इस संख्या में १०० की वृद्धि होने जा रही है। नगरपालिका को यह सवारी बहुत पसन्द है। सम्भव है अब तांगों का भी वही हाल हो जो १६३८ में इक्कों का हुआ।

मेहमान की आवभगत

लखनऊ अपनी औपचारिकता के लिए प्रसिद्ध है और दिल्ली आतिथ्यसत्कार के लिए। लखनऊ का तकल्लुफ मेहमान के लिए परेशानी का कारण होता है, परन्तु दिल्ली के सत्कार में तुष्टि और आदर के गुण हैं। वास्तव में यह कहना चाहिए कि इसमें ये गुण हुआ करते थे। लखनऊ आज चाहे जो कुछ हो, किन्तु दिल्ली बिलकुल बदल चुकी है।

यहाँ की जितनी परम्पराएँ थीं उनमें शायद सबसे प्रमुख अतिथि-सत्कार की थी। इस परम्परा के कारण मुझे कई बार बेमतलब दिल्ली में अटकना पड़ा है, केवल इसलिए कि पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार प्रस्थान को मेरे आतिथ्यकार कैलाशचन्द्रजी अशिष्टता का द्योतक मानते थे। उनका कहना था कि जो अतिथि अपना काम समाप्त करते ही पहली गाड़ी से प्रस्थान करने की सोचता है वह नटखट है और आतिथ्य का अनाधिकारी। जो आतिथ्यकार ऐसे अतिथि के आग्रह को स्वीकार कर उसे जाने की अनुमति देता है, वह अशिष्ट तथा अनुदार कहलाने का भागी है।

ऐसी धारणा कैलाश सरीखे दिल्ली के पुराने रईसों की ही नहीं थी, यहां के सभी साधारण से साधारण निवासी घर में अतिथि की सेवा कर अपने आपको धन्य मानते थे। मैं कई मित्रों को जानता हूँ, जो इस औपचारिक आतिथ्य से घबराकर नियमपूर्वक होटलों में ही ठहरा करते थे। इनमें से एक महाशय की एक बार अच्छी गत बनी। त्रिभुवन नाथजी लाहौर के पुराने पुस्तक-विक्रेता थे। अपने व्यापार के सम्बन्ध में उन्हें वर्ष में कई बार दिल्ली आना पड़ता था। अपने भूत-पूर्व सहपाठी और परम मित्र मुन्नालालजी के यहाँ वे केवल दो बार

ही ठहरे। उसके बाद जब भी उनका यहाँ आना हुआ वे फतेहपुरी के किसी होटल में डेरा लगाते थे।

एक बार किसी तरह मुन्नालालजी को पता लग गया कि त्रिभुवनजी आये हुए हैं और अमुक होटल में ठहरे हैं। दुकान से उठ वे सीधे होटल पहुँचे। पता लगा कि त्रिभुवनजी अभी-अभी रेलवे स्टेशन चले गये हैं और आठ बजे की गाड़ी से ही लाहौर जा रहे हैं। मुन्नालालजी स्टेशन पहुँचे, गाड़ी छूटने में २० मिनट ही थे कि उन्होंने त्रिभुवनजी को जा पकड़ा। उनकी क्या बात हुई और किससे-किसने क्या कहा, इसका मुझे पता नहीं। मैं इतना ही जानता हूँ कि अपना टिकट वापस कर त्रिभुवनजी को मुन्नालालजी के साथ आना पड़ा और उनके यहाँ आठ दिन तक रहे।

मैं इन दोनों महानुभावों को खूब जानता हूं। इसलिए पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहूँगा कि त्रिभुवन मुन्नालाल के देनदार नहीं थे जो उनसे छिपते फिरते और न ही मुन्नालाल बीमा एजेंट थे जो राह चलते आदमियों को व्यर्थ में चिपटते। इसका एकमात्र कारण दिल्ली का परम्परागत आतिथ्य था, जो यहाँ के लोगों को मेहमानों की खोज में स्टेशन पर, होटलों में और धर्मशालाओं में भटकने को बाध्य करता था।

घर में पहुँचते ही मेहमान के प्रति ऐसा सलूक होता था, जिसे देख कर कोई भी यह अनुमान लगा सकता कि आगन्तुक या तो कोई गण्य-मान्य व्यक्ति हैं या आतिथ्यकार के दामाद हैं। दिल्ली में और आस-पास के प्रदेश में मेहमान और दामाद पर्यायवाची शब्द बन गये हैं। यदि किसी के घर दामाद आये तो कहा जाता था कि मेहमान आया हुआ है। प्रत्येक दामाद मेहमान माना जाता था, यद्यपि प्रत्येक मेहमान आवश्यक रूप से दामाद नहीं होता था।

मेहमान के लिए निश्चित कमरे या बरामदे में सफेद चादर से लैस पलंग बिछा दिया जाता था। आतिथ्यकार तथा उसके सम्बन्धियों द्वारा पलंग से स्वयं उठने के मेहमान के प्रत्येक प्रयत्न का विरोध होता था। आतिथ्यकार का यही प्रयास रहता था कि मेहमान की समस्त आवश्यकताएँ उनके पलंग पर बैठे-बैठे ही पूरी हो जाय।

इस दस-बारह सालों में जमाना कितना बदला है, दिल्ली कहाँ-

से-कहाँ पहुँच गई है, इसका अनुमान आजकल जो मेहमानों की स्थिति है उससे लग सकता है। वर्तमान परिस्थितियों ने विशेषकर चहुँमुखी राशन की व्यवस्था ने दिल्ली की पुरानी परम्पराओं और यहाँ के लोगों की धारणाओं को एकदम अप्रासंगिक बना दिया है। मेहमान के सम्बन्ध में लोग पाश्चात्य आदर्श को ही मान्यता देने लगे हैं। आज-कल यदि किसी के घर कोई दो दिन तक ठहर जाय, तो लोग कानाफूसी करने लगते हैं—"यह अजब आदमी है, हमसे अधिक कमाता है और लात पर लात धरे यहाँ पसरा बैठा है। जानता है कि बच्चों को दूध तक सप्ताह में दो दिन फीका पीना पड़ता है, फिर भी इसकी चाय की फरमाइश बराबर रहती है। ऐसे ही लोग समाज के घोर शत्रु हैं। यह सब धाँधली हिन्दुस्तान में ही चल सकती है। रूस में तो ऐसे आदमी को गोली से उड़ा दिया जाय।"

परिस्थितियों को देखते हुए बेचारे दिल्ली वालों को भी कोई क्या दोष दे। आधी गिरस्ती तो आजकल राशन बटोरने में ही समझी जाती है। इस पर भी घर में किसी-न-किसी आवश्यक पदार्थ की हमेशा कमी रहती है। चीनी है तो बेसन नहीं, बेसन है तो आटे की कमी—यही चक्कर लगा रहता है। ऐसी हालत में घर में किसी बाहर के आदमी का क्या काम? अब शिष्टाचार की यही माँग है कि अपना निर्वाह सब आप ही करें। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत अब भिखारियों को भिक्षा न देना बुरा नहीं समझा जाता। शायद इसीलिए भिखारियों की संख्या में काफी कमी हो गई है—कम-से-कम ये लोग उस अनुपात से नहीं बढ़े जिससे जनसंख्या बढ़ी है। द्वितीय विश्वयुद्ध और उससे पैदा हुई परिस्थितियाँ हमें पाश्चात्य सभ्यता के बहुत ही निकट ले आई हैं। कभी-कभी तो कई मित्रों से फोन पर बात करते हुए ऐसा जान पड़ता है मानो हम किसी विदेशी से बात कर रहे हों जिसका शिष्टाचार उसे केवल मतलब की बात करने और नपे-तुले शब्द मुँह से निकालने पर बाध्य करता है।

मेहमान वर्ग भी अब बहुत सतर्क हो गया है। किसी के घर एक-दो दिन ठहरना हो तो ये लोग सूझ से काम लेते हैं। वर्तमान दिल्ली के मेहमान यथासम्भव अपने अस्तित्व को छिपाये रखते हैं—कम-से-कम आत्मप्रदर्शन में अब उनका विश्वास नहीं रहा। मेहमान

आतिथ्यकार से जितना कम मिले उतना ही अच्छा—आजकल यही सिद्धान्त लोकप्रिय है। मेहमान समझता है कि जिसके घर में वह टिका है साक्षात्कार द्वारा उसके जख्मों पर नमक छिड़कना अनुचित ही नहीं खतरनाक भी हो सकता है।

मेरे घर में मेहमान

हमारे पूर्वजों ने मेहमानों की महिमा का जो वखान किया है उसे पढ़कर मुझे सदा ही संतोष, वल्कि गौरव प्राप्त हुआ है। "सर्वत्र अभ्यागतो गुरूः" कितना ऊँचा आदर्श है। १६४४ तक मेरी भी इस आदर्श के प्रति श्रद्धा थी। तव यह आदर्श मेरे लिए केवल विचार अथवा सिद्धान्त मात्र था। इसे व्यवहार की कसौटी पर कसने का मुझे पूरा अवसर नहीं मिला था, या शायद इस सिद्धान्त में मेरे विश्वास का कारण यह रहा हो कि अभी तक मुझे स्वयं मेहमान वन कर लोगों के यहाँ ठहरने का ही सौभाग्य प्राप्त होता रहा, अपने घर मेहमानों को ठहराने और उनकी आवभगत करने का मौका कम मिला था। किन्तु इस क्षेत्र में मेरे तीन महीने के अनुभव एक दीर्घ जीवन के अनुभवों से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उन तीन महीनों—मई, जून, जुलाई—में मुझे दिल्ली में इतने और ऐसे मेहमानों की सेवा करने का श्रेय प्राप्त हुआ कि यदि अब उम्र भर मेरे घर कोई मेहमान न आये तब भी मुझे अफ़सोस न होगा।

मई का महीना था। दफ्तर से लौटकर वरामदे में आराम कुर्सी पर बैठा मैं उस दिन की अपनी डाक देख रहा था। कोई सात वजे होंगे। उसी समय एक साहव टहलते हुए आए और गेट से प्रवेश करते ही मेरी ओर भागे। "आ-हा, भाई रमेश तुम कहाँ" मैंने उठकर आगन्तुक को दोनों हाथों से हिलाते हुए कहा।

"दिल्ली एक काम से आया था, सोचा कि अपने पुराने मित्र से मिलते चलें।"

खूव गप लड़ी। रमेशचन्द्र जी से चार वर्ष के वाद मिलना हुआ था। आप एल० एल० वी० करते ही अलीगढ़ में प्रैक्टिस करने लगे थे—कम-से-कम लोगों को तो ऐसा ही ख़याल था, वास्तव में वे

चाहे जो करते रहे हों। मैंने कहा "भाई आश्चर्य की बात है मुझे दिल्ली में रहते चार साल होने को आए और तुम चार साल से अलीगढ़ में ही हो, फिर भी आज से पहले कभी मिलने की नहीं सूझी। अच्छा खैर, आपका बिस्तरा और सामान आदि कहाँ है।"

वे बोले—"मैं तो बल्लीमारान में ठहरा हूँ। सुबह सात बजे की गाड़ी से उतरा और पास के पास वहीं जा ठहरा।"

जब मैंने आग्रहपूर्वक बल्लीमारान से सामान लाने को कहा तो रमेश जी ने वहीं ठहरने की आज्ञा माँगी, क्योंकि वहाँ उन के साले साहब रहते थे। यह तय हुआ कि चूँकि रिश्ता नाजुक है वे वहाँ ही ठहरे रहें।

हम लोग बातों में ऐसे उलझे कि समय का पता ही न रहा। भला हो आल-इण्डिया-रेडियो का कुछ देर में हम ने रेडियो पर नौ बजते सुने। इतने में नौकर ने आकर कहा कि खाना तैयार है। मैंने रमेश जी की तरफ़ देखते हुए आदेश दिया दो आदमियों का खाना लगा दो। किन्तु रमेश ने इतनी ना-ना की कि मुझे अकेले ही खाना पड़ा और उन्होंने केवल मीठी प्लेट के भुगतान में ही मेरा हाथ बटाया। खाना खाने के बाद उन्होंने चौंक कर पूछा—"अरे भाई भाभी और बच्चे कहाँ हैं।" मैंने कहा कि वे सब तीन महीने के लिए मसूरी गए हुए हैं। "वाह यार वाह, ये ठाठ हैं। इतनी बड़ी कोठी में अकेले ही रह रहे हो।"

मैंने कुछ चौंककर कहा—"हाँ अभी कुछ समय तो अकेला ही हूँ।" फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। मैं नींद के मारे कुर्सी पर ही ऊँघने लगा। आखिर मैंने भोलू को पुकारा और उसे बिस्तर बिछाने को कहा। इसके साथ ही रमेश ने भी भोलू को सम्बोधित करते हुए हुक्म दिया—"देखो एक धोती या लुंगी मेरे लिए भी लेते आना," और मुझ से कहने लगे—"अब आधी रात वैसे ही होने आई है, पुरानी दिल्ली कहाँ जाता फिरूँगा।" अवश्य, यहीं सोइये न, मैंने विवशता की हालत में कहा। दोनों बिस्तर बिछ जाने के दस मिनट बाद मेरी आँख लग गई।

सवेरा हुआ और मैं यथापूर्व घूमने के लिए पाँच बजे घर से निकल पड़ा। जब मैं वापस आया तो भोलू को चाय बनाते हुए पाया। पूछने से पता लगा कि चाय नये साहब के हुक्म से बनाई जा रही है। मैं तो सदा दूध ही पीता था, चाय शायद मेरे घर में महीने में एक

बार भी नहीं बनती थी। खैर, रमेश बाबू ने चाय पी और मैंने पहले की तरह दूध पर सन्तोष किया।

हर रोज़ की भांति मैं दस बजे दफ़्तर के लिए रवाना हो गया। रमेश जी उस समय गुसलखाने में ऊँचे स्वर से कोई राग अलाप रहे थे। साढ़े पाँच बजे मैं दफ़्तर से वापस आ गया और फिर गप हाँकी जाने लगी।

इसी प्रकार चार दिन बीत गए। पाँचवाँ दिन शनिवार का था। मैं तीन बजे ही घर आगया। शाम को जल-पान के समय रमेश जी बहुत चिन्तित दिखाई दिए। जब मैंने बार-बार पूछा कि वे इतने गम्भीर क्यों हैं तो उन्होंने दिल का सारा हाल कह सुनाया। वे बोले—"भाई तुम्हारे सौजन्य और अतिथि-सत्कार के लिए तुम्हें जितना भी धन्यवाद दूँ थोड़ा है। पर मैं तुम्हें कब तक कष्ट देता रहूँगा। अब मुझे स्वयं अपना प्रबन्ध कर लेना चाहिए।"

उनकी बात काटते हुए मैंने कहा—"मियां कैसा प्रबन्ध। जब तक अवकाश हो रहो। आखिर तुम्हें दिल्ली में घर थोड़े ही बनाना है।"

ठीक इसी पैराये में उत्तर देते हुए रमेश जी बोले—"मियां कैसा अवकाश। लो आज तुम को सच बता दूँ। मैं तो नौकरी की खोज में हूँ। अलीगढ़ में हमारा कुछ काम जम नहीं पाया। यह अच्छी वकालत ठहरी जिस में हर महीने घर से ही खाना पड़े। और सब से सुन रहे हैं कि लड़ाई के कारण दिल्ली में हुँडियाँ लुट रही हैं। जिसे देखो कप्तान बना फिर रहा है। वह था न हमारे साथ सीतापुर का रहने वाला लखनपालसिंह। जनाब कल कनाट प्लेस में उससे टक्कर हो गई। तुम तो जानते ही हो वह कितने पानी में था। आज मेजर बना हुआ है। और फिर इस पर भी काम न धाम, हजार के लगभग पाता है। इन बातों को देखकर भैया अब लौटने को जी नहीं चाहता। हमारा तो कहीं यहीं काम बनवाओ।"

दो-चार मिनट तक ख़ामोशी रही। फिर मैंने पूछा कि वे किस तरह का काम चाहते हैं। उन्होंने कहा—"मैंने दो-तीन विभागों में आवेदन-पत्र भेजे हुए हैं। एक विभाग से उत्तर आज ही मिला है। सोलह तारीख को इन्टरव्यू के लिए बुलाया है।"

मैंने पत्र देखा और उछल पड़ा। पत्र पर जिस अफसर के हस्ताक्षर थे वे मेरे परम मित्र थे। यह जान कर रमेश की चिन्ता काफूर

होगई और वे खिलखिला कर हँसने लगे। खुशी में आकर बोले—"अब क्या है, बस काम बना समझो। देखो दोस्त, अब सब तुम्हें ही करना होगा।"

कुछ दिन के बाद सोलह तारीख भी आगई। रमेश की इन्टरव्यू होगई और साथ दो सौ रुपये मासिक पर नियुक्ति भी। दो दिन खूब रौनक रहीं, उत्सव मनाए गए। मैंने सोचा लो अच्छा हुआ मित्र का कल्याण हो गया। कहाँ तो घर से खाना पड़ता था, कहाँ अब दो सौ रुपये मिलेंगे। इधर हमारा भी कल्याण हो जायगा। दस दिन से ये सज्जन हमारे यहाँ विराजमान हैं, अब साधन-सम्पन्न हो गए हैं जल्दी ही अपने रहने का प्रबन्ध कर लेंगे।

मित्र का कल्याण तो सचमुच होगया था, परन्तु जैसा कि भावी अनुभव से पता चला मेरा कल्याण अभी दूर था। रमेश जी अब हर समय मकान की चर्चा करने लगे। क्या सुबह क्या शाम यही एक समस्या उनके सामने रहती। पर दिल्ली में मकान कहाँ और विशेष कर उसके लिए जो किसी के यहाँ मेहमान बन कर ठहरा हो? पूरा महीना बीत गया पर बात वहीं की वहीं।

एक दिन रमेश कहने लगे—"मैं तो मकान खोजता-खोजता हार गया हूँ। कहीं एक कमरा भी नहीं मिल रहा है। सच कहता हूँ अगर मुझे पहले पता होता कि दिल्ली में ऐसी हालत हैं तो शायद मैं यहाँ नौकरी ही न करता। तुमने भी तो मुझे कुछ नहीं बताया। अब तीर कमान से छूट चुका है, करूँ तो क्या करूँ।"

मेरे मतानुसार इस दार्शनिक विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि रमेश की समस्या और अपने कष्ट का मूल कारण मैं ही हूँ। न मैं उन्हें नौकरी दिलाता, न वे यहाँ पाँव पसारते। उस दिन मैंने अपने आपको दिल भर के कोसा। हार झकमार कर फिर यही प्रश्न सामने आया कि अब क्या किया जाय। कहीं युद्ध की समाप्ति तक तो रमेश जी नहीं हटेंगे? मैं अपना कष्ट उनसे स्पष्ट भी कह सकता था किन्तु उससे लाभ क्या? मकान लेने की उनकी इच्छा और एतदर्थ घोर प्रयत्न में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता था। भोलू बहुत तंग आ गया था, क्योंकि नये साहब कभी दस बजे रात को आते और कभी इसके भी बाद। जब कभी मैं उनसे कहता कि मित्र खाना तो समय पर खा लेना चाहिए, तो फट से वे एक व्याख्यान झाड़ देते

और कहते "मुझे तो आजकल सिवाय मकान के और कुछ नहीं सूझ रहा है।"

होते-होते वह समय आ गया जब मैं समझने लगा कि रमेशजी की समस्या मेरी निजी समस्या है। मेरे सब मित्र और पड़ोसी सदा मेरी हँसी उड़ाया करते और कहा करते हेमन्त जो ने खूब होटल खोल रखा है, ये नौकरी भी दिलाते हैं और रहने को घर भी देते हैं। इन कटाक्षों को सुनकर मैं चुप रहता। एक दिन इसी चिन्ता में मग्न बैठा था कि मेरे अनन्य मित्र एक दक्षिणी सज्जन मेरे यहाँ पधारे। बातों-बातों में मैंने उन्हें सारी राम कहानी कह सुनाई। वे सुनकर बहुत हँसे और बोले—"तुम भी बड़े भोले व्यक्ति हो। भला मेहमान को घर से निकालना भी कठिन काम है।"

यह सुनकर मेरी जान-में-जान आई। श्री वूथलिंगम् ने तामिल भाषा में प्रचलित एक कहावत का उच्चारण किया जिसका अर्थ है 'लोहे को लोहा काटता है'। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए वे बोले—"यदि मेहमान को भगाना हो तो घर में दो-चार मेहमान और ठहरा लो। उनमें बलवा होते देर नहीं लगेगी और बलवे के अन्त के साथ ही आतिथ्यकार का कल्याण भी हो जायगा।"

यह बात मेरी समझ में आ गई। अगले दिन दो मित्र मुझे दफ्तर में मिलने आए। ये दोनों मकान न मिलने के कारण बड़ी परेशानी में थे। कभी होटल में ठहरते, कभी धर्मशाला में। मुझे उन पर दया आई। मैंने कहा यदि पन्द्रह दिन तक ठहरना हो तो मेरा घर हाजिर है। खुशी के मारे दोनों बगलें बजाने लगे। धन्यवाद की भरमार के बाद उन्होंने मुझसे बिदा ली।

शाम को जब मैं घर लौटा तो देखा रमेशजी उन दोनों सज्जनों की आवभगत कर रहे हैं। बहुत-सा सामान बरामदे में पड़ा था। भोलू ने सामान अन्दर रखा और मैंने मेहमानों का एक दूसरे से परिचय कराया। सब लोग हँसी खुशी निर्वाह करने लगे। तीन दिन तक तो शान्ति रही। चौथे दिन रमेश आधी रात तक घर न लौटे, अगले दिन सुबह वापिस आए। उस दिन वे बल्लीमारान में ही सो गए थे। आते ही उन्होंने चाय माँगी, किन्तु पता लगा चीनी नहीं है। मैंने सुझाव पेश किया कि घर में निहायत अच्छा गुड़ है जो चाय के लिए बुरा नहीं रहेगा। सुझाव स्वीकार कर लिया गया। मेहमानों ने

गुड़ की चाय पी। अब भोलू के लिए रास्ता खुल गया। प्रायः गुड़ की चाय ही लोगों को प्रतिदिन पीने को मिलती। राशन की चीनी मुश्किल से दो दिन चल पाती थी। रमेशजी कुछ असन्तुष्ट से रहने लगे। एक-दो बार उन्होंने मुझ से कहा कि खाना ठीक न मिलने के कारण उनका हाजमा बिगड़ गया है।

इसी बीच में कुछ घटनाएँ ऐसी घटीं जो अपने चिह्न रमेशजी की आकृति पर छोड़ गईं। कई बार रमेश सोना चाहते थे पर दूसरे मेहमान पढ़ना चाहते थे। बिजली की रोशनी में रमेश की आँख न लगती थी। प्रायः किसी-न-किसी बात पर रमेश और दूसरे लोगों में झगड़ा रहता। एक दिन तो रमेश और वे मरने-मारने को तैयार हो गए। बैजनाथ को रमेश ने कहीं यह उलाहना दे दिया कि वे मुफ्त-खोरे हैं और यदि वे चाहें तो अपने मामा के यहाँ सब्ज़ीमण्डी में रह सकते हैं। बस रमेश का इतना कहना था कि बैजनाथ क्रोध के मारे झल्ला उठे और बोले—"क्या मुझ को भी आपने भुखमरा वकील समझा है कि किसी परान्नपुष्ट की भाँति दूसरों का आसरा ढूंढता फिरूँ। यह काम तो आपको ही शोभा देता है। तीन महीने से आप यहाँ डटे हुए हैं, हम तो हेमान्त के आग्रह पर ही कुछ दिनों के लिए यहाँ आए थे।"

खूब रौनक रही। गाली-गलौच तक नौबत आ गई। इतने में ही मैं आ गया। सारा हाल सुनकर मैंने दोनों को शान्त किया। शाम को खाने के समय भोलू ने सबका खाना मेज पर लगा दिया, किन्तु सिवाय मेरे कोई खाने को तैयार न था। सब की जी भर के खुशामद की, पर सब बेकार। आखिर मैं अकेला ही खाने लगा। दस मिनट बाद ही रमेश चिल्ला उठे कि उनका बटुवा गायब है। मैं उठकर उनके पास गया। "हे भगवान् यह क्या हो रहा है," मैंने तंग आकर पूछा। मेरी बात का किसीने जवाब न दिया। रमेश फिर बैजनाथ से उलझ गए। उनका आशय था कि बटुवा बैजनाथ ने ही चुराया है। बड़ी मुश्किल से खामोशी हुई और हम लोग सो पाये।

अगले दिन मैं पाँच बजे उठ गया। क्या देखता हूँ कि पीछे का दरवाजा खुला पड़ा है। भोलू भी कहीं नहीं दीख पड़ा। मुझे कुछ सन्देह होने लगा। तुरन्त मेहमानों को जगाया। सब अपने-अपने सामान की जाँच करने लगे। रमेश घबरा कर बोले कि उनका ट्रंक

गायब है। दूसरे मेहमानों के अटेचीकेस नदारद थे। मेरा एक विस्तर जो फालतू पड़ा रहता था कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। बड़ी हाहाकर मची। भोलू ने सोचा होगा इस टिड्डी दल में क्या पता लगता है कौनसा सामान किसका है। सो जो कुछ उसके हाथ लगा लेकर चम्पत हुआ।

थाने में रपट लिखवाई गई। औरों के साथ मैं भी घंटों वहाँ खराव हुआ। थाने से मैं सीधा दफ्तर चला गया। जब शाम को घर लौटा तो वहाँ कोई नहीं था। घर का ताला लगा हुआ था। पाँच-दस मिनट मैं इधर-उधर देखता रहा और सोच ही रहा था कि ताले को कैसे खोला जाय कि मेरे पड़ौसी हंसराज जी ने मुझे घर की ताली सौंप दी। मेहमान बचा-खुचा सामान लेकर दूसरे ठिकानों पर जा चुके थे और जाते समय चाबी हँसराज जी को दे गए थे।

घर खोल कर जैसे ही मैं गोल कमरे में बैठा मेरा मन बहुत उद्विग्न होने लगा। अचानक मुझे कुछ याद आया और मैं सीधा लोधी-रोड अपने मित्र बूथलिंगम् के घर चला गया। शाम का खाना उस दिन मैंने उन्हीं के यहाँ खाया।

मौसम, शिष्टाचार और रईसज़ादे

इस परिवर्तनशील युग में गिरगिट की तरह दिल्ली कितनी बदली है इसका सबसे अच्छा प्रमाण यहाँ के मौसम से मिलता है। दिल्ली उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान के बीच में स्थित है और इन तीनों राज्यों के भूगोल का प्रभाव दिल्ली पर रहा है। उत्तर प्रदेश की तरह बरसात के मौसम में दिल्ली में काफी वर्षा होती थी और अब भी होती है। पंजाब की गरमी सरदी का अनुभव भी दिल्लीवालों को सदा रहा है। उधर रेगिस्तान की लू और आँधियाँ सदा दिल्ली को अपनाती रही हैं।

कोई विश्वास करे या न करे, दिल्ली में और बहुत-कुछ तो बदला ही है, इन दस बारह सालों में यहाँ का मौसम भी पलटा खा-गया है। इस सदी के तीसरे दशक में कोई भी यह भविष्यवाणी कर सकता था कि जुलाई के आरम्भ में या उसके आसपास दिल्ली में वर्षा शुरू हो जायेगी। आजकल बरसात के संबंध में साधारण व्यक्ति तो क्या खाकर भविष्यवाणी करेगा, अन्तरिक्ष वेत्ताओं का ज्ञान भी प्रायः उन्हें धोखा दे जाता है। पत्रों में छपा हुआ मौसम का विवरण कभी-कभी वास्तविकता के इतना प्रतिकूल होता है कि विवरण में दिया हुआ घटाटोप मौसम और काले बादलों का वृत्तान्त किसी विरही प्रेमी की अभिलाषा मात्र जान पड़ता है। कभी-कभी जुलाई का सारा महीना कोरा निकल जाता है और एक दो साल ऐसा भी हुआ है कि मई के महीने को हो सावन कहने को जी चाहा।

दिल्ली में तीन महीने—अप्रैल, मई, जून - ठेठ गरमी के हुआ करते थे। मई और जून में झुलसा देने वाली लू चला करती थी। लू के साथ ही कभी-कभी करौलबाग और सब्जीमंडी जैसे मुहल्लों में रेत भी उड़ा करती थी। लू अब भी चलती है, मगर सांस ले-लेकर। चार

दिन लू चली कि आकाश में बादल उमड़ आये। महीना चाहे मई का हो या जून का, लू के साथ रेत उड़ने का तो अब सवाल ही नहीं रहा। दिल्ली में रेत बहुत थोड़ी रह गई है, जिसे आंधी तूफान ही उड़ा सकते हैं। इसलिए इन दिनों गरमी का प्रकोप कुछ कम पड़ गया है।

मुझे याद है—दो वर्ष हुए मई के महीने में दिल्ली-स्थित अमरीकी दूतावास में मेरी एक सज्जन से भेंट हुई, जो दो दिन पहले ही वाशिंगटन से आये थे। इस देश में उनका पहली बार आना हुआ था। वह बराबर मुझसे भारत की राजनीतिक स्थिति के बारे में प्रश्न करते रहे। सौजन्यवश मैंने भी उनसे पूछा—"कहिए मि० ब्लेक आप को दिल्ली कैसी लगी ?" ब्लेक साहब बोले—"बहुत अच्छी। हम लोगों को वाशिंगटन में ही बताया गया था कि दिल्ली एक सुन्दर रिज पर स्थित है। रिज तो अभी तक मैंने नहीं देखा, परन्तु परसों से पर्वतीय मौसम का आनन्द उठा रहा हूँ।"

अगले ही दिन जब कड़ाके की धूप निकली और करारी लू चली तो ब्लेक साहब के भ्रम का निवारण हो गया। वाशिंगटन में मिली सूचना पर उन्हें क्रोध आने लगा। कुछ सप्ताह बाद जब मैं उनसे मिलने गया तो पता चला कि वह मसूरी गये हुए हैं।

न्यूनाधिक यही हाल आजकल की सरदी का है। कभी-कभी सरदी इतना जोर पकड़ती है कि संस्मरणशील शरणार्थियों को लाहौर की याद आ जाती है। परन्तु इस वर्ष ऋतुराज का स्वागत गरमी ने किया और फरवरी में ही अवनि तपने लगी। शौकीन लोग चार ही दिन ठंडे सूट पहन पाये थे कि शरत ने छिपे चोर की तरह वार किया। मार्च में महीना भर लोग ठिठुरते रहे।

दिल्ली के अन्तरिक्ष की इस अवस्था के लोग कई कारण बताते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि विश्व युद्ध में जो गोला बारूद और गैसें छूटी थीं उनका आजकल के मौसम पर प्रभाव पड़ रहा है। पी० डब्ल्यू० डी० के कर्मचारी गरमी की अवधि कम होने का श्रेय अपने आपको देते हैं। उनका कहना है कि राजधानी में उन्होंने इतने पेड़ लगा दिये कि यहाँ का मौसम ही बदल गया। भूगर्भवेत्ता समझते हैं कि राजस्थान का मरुस्थल चुपचाप धीमी गति से अजगर की भाँति दिल्ली की ओर बढ़ रहा है और इसके कारण दिल्ली का मौसम अस्थिर हो गया है। इन भले लोगों का विचार है कि संभव है आगामी पचास

वर्षों में दिल्ली जैसलमेर सी बन जाय और यह भी हो सकता है कि सोलन या रानीखेत की रीस करने लगे। एक वर्ग ऐसा भी है जो मौसम समेत सभी परिवर्तनों के लिए भांति-भांति के प्रान्तों से आये हुए शरणार्थियों को उत्तरदायी ठहराता है।

शिष्टाचार

सदियों से दिल्ली का शिष्टाचार विशिष्ट रहा है। यहां के शिष्टाचार का आधार है दूसरों का आदर सत्कार और समाज की शोभा। दिल्ली की भाषा में कड़े शब्दों का प्रयोग वर्जित था। किसी की बात को बीच में काटना बहुत बड़ी अशिष्टता मानी जाती थी। किन्तु बात काटने वाले फिर भी बहुतेरे थे। यह काम वे ढंग से करते थे। इस के लिए नया गुर ढूँढ लिया गया था। यदि किसी की बात बीच में ही काटनी हो तो झुककर शिष्टतापूर्वक यह कहा जाता था—"कता कलाम मुआफ," अर्थात् "मैं आपकी बात काट रहा हूँ, क्षमा कीजिए" किसी को भला बुरा कहना हों तो वह भी सलीस और शिष्ट भाषा में निभाया जाता था।

महफिल या मजलिस का शिष्टाचार बिल्कुल अलग था। मजलिस में कैसे बैठा जाय, कौन कहाँ बैठे, कुछ मांगना हो तो कैसे मांगा जाय, बीच में उठना हो तो जाने की आज्ञा कैसे ली जाय—यह सब शिष्टाचार के अन्तर्गत आता था। पान पेश करना या खाने अथवा पीने के लिए किसी को कोई चीज देना, पेश की गई चीज को स्वीकार न कर सकने के लिए विवशता प्रकट करना—ये भी मजलिस की शिष्टाचार के आवश्यक अंग थे।

शिष्टाचार की शिक्षा लड़कों और लड़कियों को बचपन से ही दी जाती थी। जितना पढ़ने-लिखने पर जोर था, शिष्टाचार पर उससे कम नहीं था। कुछ अमीर घरानों में तो पारिवारिक परम्परा से ही बच्चे शिष्टाचार ग्रहण कर लेते थे। बहुत से ऐसे रईस होते थे जिनके घरों में परम्परायें कम और रईसी अधिक होती थी। ऐसे घरों में रईसजादे शिष्टाचार की शिक्षा प्राप्त करने वेश्याओं के सुपुर्द किये जाते थे। उठना, बैठना, बोलना, बात करना, आये गयों का स्वागत करना, बड़ों को सलाम करना और उनकी सेवा करना—यह सब पाठ रईस-जादों को वेश्याएँ पढ़ाती थीं। इस शिक्षण का आधार ठोस व्यवहार था। एक समय था कि सीताराम बाजार की गली मुरगान (जिसे अब

गली बजरंगबली कहते हैं) इस प्रकार की पाठशालाओं के लिए प्रसिद्ध थी। शाम के समय इस गली में जगह-जगह रईसजादों की फिटनें या घोड़ागाड़ियां खड़ी रहती थीं।

सम्भव है यह सब सुनकर आजकल के बालकों के मुंह में पानी आ जाय। कला के ऐसे वातावरण में शिक्षा पाना सौभाग्य की पराकाष्ठा रहा होगा। उन सब बातों को दिल्ली के लोग अब भूल चुके हैं। दिल्ली के सायंकालीन कालिजों को देखकर ही मुझे कभी-कभी गली मुरगान की पाठशालाओं की याद आ जाती है, यद्यपि समय को छोड़कर दोनों में सादृश्य कुछ भी नहीं।

राजधानी का साहित्यिक जीवन
(हिन्दी)

साहित्य एक ऐसा दर्पण है, जिसमें किसी भी नगर अथवा प्रदेश का राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रतिबिंबित होता है। अतः दिल्ली का सर्वाङ्गीण तथा सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये इस दर्पण पर भी एक नजर डाल लेना आवश्यक है। इसके लिये हमें दस वर्ष के आलोच्य काल की परिधि से जरा पीछे जाना होगा।

मध्ययुग में साहित्य का सृजन अधिकतर राजदरबारों, राजाओं और रईसों के प्रश्रय में होता था। दिल्ली सदियों से राजधानी रही है। इसके राजनैतिक तथा शासनिक जीवन में कई क्रांतियां आईं परन्तु इसके राजसी स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यहाँ के मुसलमान शासक, विशेषकर मुगल बादशाह, कला और साहित्य के भी शौकीन थे। कई तो अच्छे लेखक और कवि भी थे, और उनके दरबार में कवियों और लेखकों को प्रश्रय मिलता था। अतः स्वाभाविक ही था कि उनके शासन-काल में दिल्ली साहित्य की भी राजधानी बनी हुई थी। दिल्ली का साहित्य, दिल्ली की शायरी एक आदर्श था, जिसका अनुकरण और लोग करते थे और कृतकृत्य होते थे।

वर्तमान हिन्दी का मूल रूप, जिसे खड़ी बोली भी कहते हैं, वस्तुतः दिल्ली और इसके आसपास के प्रदेश की सदियों पुरानी बोलचाल की भाषा है। बाद के मुगल शासकों के समय में, इसी सदियों पुरानी जन-भाषा हिन्दी में अरबी-फारसी के सम्मिश्रण तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से एक नई शैली का विकास हुआ, जो आगे चलकर उर्दू कहलाई। इसी उर्दू को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और मुसल-

मान बादशाहों और रईसों की प्रेरणा से उसी में साहित्य-सृजन होने लगा। यों आदि काल से बह रही जन-भाषा रूपी नदी में शासकों के प्रभाव से अरबी-फारसी का कृत्रिम रंग घोला गया। बाद में इसी नये रंग की धारा को एक अलग धारा सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में दिल्ली की साहित्यिक परम्परा का उर्दू से ही सम्बन्ध था। वह परम्परा अँग्रेजी के प्रभुत्व का बोझ न सह सकी। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में स्थिति यह थी कि दिल्ली में अंग्रेजी संस्कृति तथा साहित्य के पांव तो जमे नहीं थे, पर उर्दू साहित्य और वह संस्कृति जिसके आधार पर यह भाषा खड़ी हुई थी, डूबते तारे की तरह धूमिल-सी दिखाई देने लगी थी। लोग उर्दू से यदि विमुख नहीं थे, तो इसके प्रति उन्हें विशेष अनुराग भी नहीं रह गया था।

मानव प्रयास प्राकृतिक तथा चिरन्तन सत्य को कैसे झुठला सकता है? जन-भाषा रूपी धारा का ऊपर का भाग तो सतत प्रयत्नों से नये रंग में रंग दिया गया था, परन्तु उसका नीचे का प्रवाह अपने स्वाभाविक और प्राकृतिक रंग में ही रहा। शासकों के कृत्रिम रंग घोलने के प्रयास समाप्त हो जाने पर सारी धारा ही अपने स्वाभाविक तथा नैसर्गिक रंग में प्रकट होने लगी। राजधानी की भाषा पहले भी हिन्दी थी और फिर हिन्दी ही होने लगी।

दिल्ली और आगरे के बीचों-बीच मुगलकाल से ही मथुरा व्रजभाषा के साहित्य का केन्द्र बनी हुई थी। अकबर आदि मुगल सम्राट् और उनके कई दरबारी तो स्वयं व्रजभाषा के कवि तथा पारखी थे। बाद में जब उर्दू का प्रभुत्व बढ़ा, तब भी कई हिन्दू और मुसलमान हिन्दी काव्य की आराधना में लुके-छिपे लीन रहे। वैसे भी दिल्ली के जन साधारण की जबान मूलरूप में हिन्दी ही रही है।

बीसवीं सदी के पहले दशक में दिल्ली के मध्यवर्ग में हिन्दी की कई ऐसी प्रतिभाए अंकुरित हो चुकी थीं, जो जब आगे चलकर पुष्पित-पल्लवित हुईं, तो समस्त हिन्दी संसार का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सका। मेरा आशय यहाँ सर्वश्री चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्र कुमार और ऋषभचरण जैन आदि से है। श्री रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार श्री चतुर सेन शास्त्री की पहली कहानी सन् १६१४ में प्रकाशित

हुई थी। लगभग यही समय हिन्दी के यशस्वी उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार के प्रकाश में आने का है।

लेकिन दिल्ली में सदियों से वह रही हिन्दी की धारा को अपने स्वाभाविक और नैसर्गिक रंग रूप में प्रकटित करने का वास्तविक श्रेय अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंद को है, जिन्होंने १९१२ में यहाँ से "विजय" नाम का हिन्दी का पहला दैनिक पत्र शुरू किया और तत्पश्चात् १९२३ में दैनिक "अर्जुन" की स्थापना की। इन्हीं दोनों पत्रों के सम्पादक के रूप में दिल्ली के सर्वथा पहले पत्रकार पं० इन्द्र विद्या-वाचस्पति प्रकाश में आये।

दिल्ली की साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से भी "अर्जुन" की स्थापना अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। इससे नये लेखकों को प्रोत्साहन भी मिला और प्रश्रय भी।

"अर्जुन" की स्थापना के कुछ वर्ष बाद दिल्ली से श्री रामचन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में "महारथी" नामक साप्ताहिक निकलने लगा और कालांतर में वह भी दिल्ली के साहित्यिक जीवन का केन्द्र बन गया। उसके बाद धीरे-धीरे और भी कई दैनिक व साप्ताहिक यहाँ से प्रकाशित होने लगे और हिन्दी अपने वास्तविक स्थान को प्राप्त करने लगी।

लेकिन युद्ध आरम्भ होने से तीन साल पहले १९३६ में एक ऐसी घटना घटी, जिसने किसी हद तक उर्दू में फिर से जान डाल दी। वह घटना थी आल इंडिया रेडियो की स्थापना, जिसका केन्द्र दिल्ली थी। यह सरकारी संस्था आरम्भ से ही उर्दू के ख्यातनामा साहित्यिक श्री बुखारी के हाथ में आ गई। उन्होंने मृतप्राय उर्दू में प्राण-संचार करने का भरसक प्रयत्न किया, और इसमें वे सफल भी हुए। १९३९-४० में दिल्ली रेडियो उर्दू साहित्य और साहित्यिकों का सबसे बड़ा गढ़ था। अंजुमन-तरक्क़िये-उर्दू का स्थान भी इसके बाद ही आता था। युद्ध-जन्य परिस्थितियों के कारण श्री बुखारी के अधिकार-क्षेत्र में और भी विस्तार हो गया और सरकारी प्रचार के नाम पर उर्दू कवियों और लेखकों का वे खुल्लमखुल्ला भरण-पोषण करने लगे।

सरकारी प्रश्रय केवल उर्दू के लेखकों और कवियों को ही मिलता था और सारा सरकारी काम-काज भी उर्दू में ही होता था। प्रोत्साहन के अभाव के कारण दिल्ली पूर्ण रूप से हिन्दी साहित्य का केन्द्र न

बन सकी। यहाँ के हिन्दी लेखकों व पत्रकारों की धाक बाहर वाले मानते थे, इनके नामों और कृतियों से वे परिचित थे, परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इनकी साहित्य-सेवा प्रायः अपनी कृतियों तक ही सीमित थी। वास्तव में अभी दिल्ली में हिन्दी सार्वजनिक रुचि की चीज नहीं हो पाई थी। हिन्दी को वास्तविक रूप में लोकप्रिय बनाने का श्रेय कुछ नवागन्तुक नवयुवकों को है।

सन् १९३९ में विश्व युद्ध आरम्भ होने से राजधानी के बहुमुखी जीवन में जहाँ कई परिवर्तन हुए, वहाँ संयोगवश यहां के साहित्यिक जीवन में भी कुछ विशेष सक्रियता आ गई। इस साहित्यिक सक्रियता का सम्बन्ध मुख्यतः कवियों से था। व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि श्री वियोगी हरि तो १९३४ से ही दिल्ली में रह रहे थे। सन् १९३८-३९ में न जाने किस प्रकार विधि ने कुछ नवयुवक तथा प्रतिभाशाली कवियों को दिल्ली में ला इकट्ठा किया। कवियों के इस जमाव के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें "ईश" नाम की ही अधिक भरमार थी, जैसे छबेश, दिनेश, करुणेश, शेष, कमलेश, ईश इत्यादि। इनके अलावा सर्वश्री नगेन्द्र, हिन्दी के ख्यातनामा आलोचक तथा काव्य मर्मज्ञ, सुधीन्द्र, पीयूष आदि भी यहां के प्रमुख कवि थे। हिन्दी के कहानीकार व उपन्यासकार श्री रामचन्द्र तिवारी उन दिनों कवि के रूप में ही दिल्ली में उदित हुए थे। १९४० के अन्त में "चिलमन" के कवि चिरंजीत भी इस जमाव में आ मिले। इस जमाव में यदि कोई कमी थी तो केवल हास्यरस की थी, और वह कमी एक-दो वर्ष बाद गोपालप्रसाद व्यास ने आकर पूरी कर दी।

कहना न होगा, दिल्ली को हिन्दीमय करने में इन सभी कवियों का बहुत हाथ है। पहले उर्दू के प्रभुत्व के कारण दिल्ली में केवल मुशायरों का बोलबाला था। दिल्ली में उपर्युक्त कवियों की उपस्थिति के कारण कवि-सम्मेलनों की परम्परा चल पड़ी और इससे यहां हिन्दी का यथेष्ट प्रचार हुआ। लोगों की हिन्दी साहित्य में रुचि भी बढ़ने लगी।

उपर्युक्त सब कवि कभी-कभी मिल बैठते थे और साहित्य-चर्चा के साथ-साथ थोड़ा-बहुत कविता-पाठ भी हो जाता था। मेरा परिचय उस समय की दो संस्थाओं से था। कुछ दिन बाद बढ़ते-बढ़ते

वह परिचय आत्मीयता में परिणत हो गया। वे संस्थाएं थी कवि-समाज और नई दिल्ली हिन्दी साहित्य-सभा। और कोई साहित्यिक संस्था शायद उन दिनों यहां थी भी नहीं। यह विचित्र बात थी कि कवि-समाज के तीन-चौथाई से भी अधिक सदस्य, विशेषकर कवि सदस्य, बाहर के थे। जब श्री राय के सौजन्य से पहली बार इन लोगों से मेरी भेंट हुई, तो मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ। मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि दिल्ली में इतनी संख्या में इतने अच्छे कवि होंगे।

उपर्युक्त मित्र के यहां कनाट सर्कस में मैं यथासमय पहुँचा। सब लोगों से परिचय प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। जलपान के पश्चात् पता लगा कि कवि-सम्मेलन होने जा रहा है। विधि की विडम्बना देखिये, मुझ-जैसे घोर गद्यमय व्यक्ति को सभापति के आसन पर बिठा दिया गया। सोलह कवियों के नामों की सूची मेरे हाथ में दे दी गई। कविता पाठ आरम्भ हुआ।

जो कविताएं मैंने उस दिन सुनी, उनमें से कुछ आज तक नहीं भूलीं। "मैं क्या जानू पथ वह कैसा, पर मैं चलता रहा निरन्तर"— श्री पीयूष की यह कविता श्रोताओं के आग्रह पर कई बार सुनाई गई। दूसरी कविता जिसने समां बांध दिया, श्री चिरंजीत की थी— "पंखों से बांध दिये पत्थर।" इसमें यथार्थता की झलक थी। कविता सुनते हुए सभी ऐसा महसूस करते थे, मानो कवि उनकी मनोदशा का चित्र खींच रहा है। भला कौन संवेदनशील व्यक्ति ऐसा होगा जिसके दिल पर पत्थर नहीं रखे हैं! बिरला ही आज कोई ऐसा सौभाग्य-शाली होगा, जिसका मन और पांव एक ही मार्ग की ओर संकेत करते हों। अधिकतर तो हम लोगों में ऐसे ही हैं, जिनका मन दक्षिण की ओर जाने को कहता है, पर जिन्हें चलना पड़ता है उत्तर की ओर। आधुनिक जीवन का आखिर सबसे बड़ा अभिशाप मानव की विवशता ही तो है। यह भाव उक्त कविता में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया था। और भी अनेक कविताएं पढ़ी गई, जिनमें से शेष की कविता "दूध बेचने चली अहीरिन" सभी को दूध की भांति मीठी और सुखद लगी।

कवि-समाज की विशेषता यह थी कि इसमें विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व था। इसके सदस्यों में सरकारी कलमतोड़, लोहे के

व्यापारी, पुस्तक-विक्रेता, कथावाचक, अध्यापक, डाक्टर, कम्पाउंडर, टेलर मास्टर सभी शामिल थे। महीने में एक बार ये लोग नियत स्थान पर इकट्ठे होते और आनन्द से साहित्य-चर्चा और कविता-पाठ में दो तीन घंटे बिताते। कुछ सदस्य विशेष रूप से उत्साही थे। उनकी कृपा से कई रातें मैंने यमुना के तट पर बिताईं और नौका विहार किया। प्रायः हर साल शरत पूर्णिमा को कवि-समाज के सदस्यों का यही कार्यक्रम होता था। वे चांदनी रातें, जब कवि और कवयित्रियां मुक्त कंठ से कविता पाठ करती थीं, मुझे आज भी याद आती हैं।

कवि-समाज की जान जगद्‌मित्र श्री तरंगी थे। भगवान उन्हें चिरायु करें, वे अब भी कविता और साहित्य की जान हैं, परन्तु शायद अब कवि-समाज की नहीं। कुछ लोग उन्हें विदूषक समझते थे, कई एक उन्हें मस्तमौला कह कर पुकारा करते थे और कुछ गुरू के नाम से सम्बोधित करते थे। परन्तु मित्र लोग (मैं भी मित्रों में ही था और हूँ) उन्हें दादा कहा करते थे। सभी उनसे प्रेम करते थे, और कइयों को वह प्रेम महंगा भी पड़ता था। दादा तरंगी आशु कवि तो नहीं हैं, पर आन-की-आन में तुक ऐसा भिड़ाते हैं कि कवि-सम्मेलनों पर छा जाते हैं। व्यंग्य और हास्य में उनसे टक्कर लेना किसी के लिए भी जोखिम का काम हो सकता है।

कालक्रम से दिल्ली का जादू और कवियों को भी यहाँ खींच लाया। राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्मठ सैनिक श्री क्षेमचन्द्र सुमन को जेल जीवन ने कवि बना दिया, और लोकगीतों के संग्राहक श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को दिल्लीवास ने ही कवि बना दिया है। पंजाब-विभाजन के कारण दिल्ली को काफी कष्ट और असुविधाएँ उठानी पड़ी हैं, परन्तु एक लाभ भी हुआ है और वह लाभ यह कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री उदयशंकर भट्ट और तरुण कवि श्री देवराज दिनेश लाहौर से दिल्ली आ गये।

पंजाब-विभाजन के अलावा स्वाधीनता-प्राप्ति के फलस्वरूप विधान-परिषद् के संगठन व लोक-सभा के नये संघटन से भी दिल्ली के साहित्यिक क्षेत्र को लाभ पहुँचा है। हिन्दी के अग्रणी नेता व नाटककार सेठ गोविन्ददास, यशस्वी कवि पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन और लब्धप्रतिष्ठ कहानी लेखिका श्री कमला चौधरी—ये तीनों जबल-

पुर, कानपुर और मेरठ की अपेक्षा अब दिल्ली की ही विभूतियाँ माने जाते हैं। कमला चौधरी कहानीकार के अतिरिक्त उच्चकोटि की कवयित्री भी हैं, यह बात उन लोगों से नहीं छिपी है, जिन्होंने उनसे उनकी स्फुट रचनाएँ तथा उमरखयाम की रुबाइयों का अद्वितीय पद्यानुवाद सुना है।

दिल्ली में उच्चकोटि के इतने कवियों का जमघट देखकर मैं प्राय: सोचा करता हूं कि अब वह दिन दूर नहीं, जब पहले की उर्दू शायरी की भाँति दिल्ली की कविता भी देश में अनुकरणीय समझी जायगी।

मेरी इस आशा को बल मिलता है दिल्ली में विकसित हुई आदर्श कहानी कला से। इस समय दिल्ली में कहानीकारों की दो पीढ़ियाँ रह रही हैं। पहली पीढ़ी के जैनेन्द्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री आदि का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। दूसरी पीढ़ी में सर्वश्री देवेन्द्र सत्यार्थी,- विष्णु प्रभाकर, सत्यवती मल्लिक, चन्द्रकिरण सानरेक्सा (वे भले ही अब दिल्ली में नहीं हैं, परन्तु कहानीकार के रूप में उनका जन्म और विकास दिल्ली में ही हुआ है) यशपाल जैन, रामसरन शर्मा इत्यादि आते हैं।

कुछ समय से पंजाब से श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और यू० पी० से श्री मन्मथनाथ गुप्त और श्री कृष्णचन्द्र शास्त्री आकर इस दूसरी पीढ़ी के स्थायी सदस्य बन गये हैं। "शतरंज के मुहरे" के ख्यातिप्राप्त लेखक श्री नलिन और बरुआ भी अब दिल्ली में हैं और उनके रंग-ढंग से मालूम होता है कि वे दिल्ली की गलियाँ नहीं छोड़ेंगे। कहना न होगा, यह पीढ़ी कई दृष्टियों से पहली पीढ़ी से भी अधिक प्राणवान्, प्रतिभाशाली और सक्रिय है और सारे देश की कोई पत्रिका नहीं जो इनकी रचनाओं से गौरवान्वित न होती हो।

दिल्ली के इन कहानीकारों की सूची में से एक महत्वपूर्ण नाम छूट गया है। मेरा अभिप्राय श्रीराम शर्मा 'राम' से है। कई कारणों से ये दिल्ली के विशिष्ट कहानी लेखक हैं। एक कारण तो यह है कि इनकी रचनाओं को गिनना सम्भव नहीं, वे तोलने की वस्तु हैं। 'राम' जी से एक बार मैंने पूछा, "आप इतनी कहानियाँ कैसे लिख लेते हैं ?"

उत्तर मिला, "श्रीमानजी, श्रम तो पेट के लिए करना ही पड़ता है, परन्तु मैं सूझ से काम लेता हूँ, इसलिए यद्यपि एक महीने काम

और दूसरे महीने विश्राम का क्रम रहता है, फिर भी औसत प्रतिदिन एक कहानी का रहता है।"

"वह कैसे", मैंने पूछा।

'राम' जी बोले—"तीस दिनों में तो मैं तीस कहानियाँ लिखता हूँ और अगले तीस दिनों में मैं लिखी हुई कहानियाँ को उधेड़ता हूँ। इस क्रिया में विश्राम और मनोरंजन तो है ही, तीस नई कहानियाँ भी तैयार हो जाती हैं।"

दिल्ली के गत दस वर्षों के साहित्यिक जीवन की एक विशेष घटना यह है कि प्रसिद्ध पत्रकार पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति एक सफल उपन्यासकार के रूप में सामने आये हैं। दिल्ली के अन्य उपन्यासकारों में श्री जैनेन्द्र और चतुरसेन शास्त्री के बाद सर्वश्री रामचन्द्र तिवारी, गुरुदत्त, उदयशंकर भट्ट और क्षेमचन्द्र सुमन के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री अज्ञेय और उपेन्द्रनाथ अश्क सदा से सैलानी जीव रहे हैं, अतः दिल्ली का उन पर कोई अधिकार नहीं।

दिल्ली के गद्य-पद्यमय बहुमुखी साहित्यिक जीवन का वास्तविक परिचय हमें शनिवार समाज की गोष्ठियों में ही मिलता है। कुछ लोग शनिवार समाज को सनीचर समाज भी कहते हैं, और मैं यह छिपाऊँगा नहीं कि मैं भी इसका सदस्य हूँ।

जब से विधान-परिषद् ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा स्वीकार कर लिया है, तब से देश की राजधानी का महत्व और भी बढ़ गया है। हाल ही में स्थापित हुई अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् का मुख्य केन्द्र भी यहीं होगा। दिल्ली को जो महत्व हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने नहीं दिया, वह अब हिन्दी परिषद् द्वारा इसे मिल रहा है। दिल्ली राजनीतिक राजधानी तो है ही, अब साहित्यिक राजधानी भी बन जायगी।

दिल्ली और उर्दू साहित्य

उर्दू का जिक्र किये बिना दिल्ली के साहित्यिक जीवन की चर्चा अधूरी ही नहीं बल्कि निरर्थक है। इसका कारण है कि दिल्ली ही उर्दू साहित्य का जन्म-स्थान और बाल्यावस्था में उस साहित्य की क्रीड़ा-स्थली रही है। यद्यपि साहित्य-सम्बन्धी अन्य धारणाओं की तरह यह धारणा भी विवाद का विषय बन गई है, फिर भी यह सब मानते हैं कि उर्दू साहित्य की उत्पत्ति से दिल्ली का विशेष लगाव रहा है। शायद ही उर्दू साहित्य का कोई इतिहास हो जिसमें लेखक ने दिल्ली को "गहवारये अदब" (साहित्य का पंघूरा) के नाम से न पुकारा हो।

इसका कारण भावुकता मात्र नहीं, न ही यह कि दिल्ली मुगल सल्तनत की राजधानी थी। इसका प्रमुख कारण यह है कि उर्दू भाषा और साहित्य के प्रवर्तक दिल्ली के ही रहने वाले थे। उर्दू गद्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं। उर्दू गद्य की पुस्तकें जो पहली बार लोकप्रिय हुईं और जिन्हें ठेठ विद्वानों को छोड़कर साधारण उर्दू का ज्ञान रखने वालों ने भी पढ़ा, केवल साठ या सत्तर साल पुरानी हैं। इन पुस्तकों के लेखक थे सर सैयद अहमद, मौलवी जकाउल्ला, डिप्टी नजीर अहमद, गालिब आदि। ये सब दिल्ली निवासी थे। 'इंडियन पिनल कोड' का पहला उर्दू अनुवाद डिप्टी नजीर अहमद ने किया। इसके बाद उन्होंने कई एक उपन्यास लिखे जो आज भी रोचक ही नहीं बल्कि साहित्यिक दृष्टि से बहुत ऊँचे स्तर के कहे जा सकते हैं।

सर सैयद अहमद की पुस्तकों का तो कहना ही क्या। वे तो उर्दू गद्य के सर्वप्रथम सफल लेखक माने जाते हैं। गदर के सम्बन्ध में मुसलमानों की दुरावस्था के बारे में और अपनी जाति को अध:पतन से उभारने के लिए उन्होंने जो कुछ लिखा उसका मुसलमानों पर

काफी प्रभाव पड़ा। उनके लेख और निबन्ध ही उर्दू गद्य की नींव बने जिस पर उर्दू साहित्य का विशाल भवन खड़ा किया जा सका।

यही नहीं, उर्दू भाषा और साहित्य का प्रथम इतिहास भी दिल्ली ही में लिखा गया। पुस्तक का नाम है "आबे हयात" और उसके लेखक थे दिल्ली निवासी मुहम्मद हुसैन आज़ाद। इन्हीं दिनों (१६०० के लगभग) उर्दू साहित्य के इतिहास पर एक और प्रामाणिक ग्रंथ लिखा गया, जिसके लेखक थे एक हिन्दू, लाला श्री राम। ये सज्जन भी ठेठ 'दिल्लीवाल' थे।

और तो और उर्दू के प्रथम शब्दकोष की रचना भी दिल्ली में हुई। कोष का नाम था "फरहँगे आसफिया" और इसके प्रणेता थे मौलवी सैयद अहमद देहलवी।

उर्दू पद्य के क्षेत्र में तो दिल्ली ने और भी कमाल किया। सभी उस्ताद और 'साहबे नज़म' दिल्ली ही में आ जुटे थे। इसका एक कारण शायद यह रहा हो कि अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह 'जफर' स्वयं उच्च कोटि के शायर थे। उनकी कविताएँ आज भी उर्दू साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। ज़ौक, मोमिन, गालिब, दाग, आदि उर्दू पद्य के महारथी दिल्ली ही में रहते थे। इन्हीं कवियों की बदौलत उर्दू कविता शिखर पर पहुँची। इन्हीं के 'कलाम' ने इसे लोकप्रिय बनाया।

क्या-क्या गिनाया जाय, उर्दू साहित्य तो वह मशीन कही जा सकती है जिसका हर कल-पुर्जा दिल्ली में ही ढाला गया, यहाँ ही घड़ा गया और यहां ही फिट किया गया। इस साहित्य के सभी अंगों को यहां के लोगों ने ही अपनाया और पुष्ट किया।

यह सब विवरण १८७० से १६०० तक का है। अब आगे चलिये और बीसवीं शताब्दी पर नजर डालिये। इस शताब्दी के जन्म लेने तक उर्दू साहित्य अधिक व्यापक हो गया था। दिल्ली के अतिरिक्त लखनऊ, लाहौर और हैदराबाद (दक्षिण) भी उर्दू के केन्द्र बन गये थे। परन्तु फिर भी दिल्ली की भूमि तो उपजाऊ ठहरी। यहां के 'अदीब' अपनी रचनाओं द्वारा उर्दू साहित्य की श्रीवृद्धि बराबर करते रहे। यह सभी स्वीकार करते थे कि उर्दू अदब का मौलिक केन्द्र दिल्ली ही है। इसीलिए अंजुमन-तरक्किये-उर्दू का प्रधान कार्यालय हैदराबाद से

दिल्ली लाया गया और उर्दू साहित्य के एकीकरण तथा दूसरी देशव्यापी गतिविधियों का केन्द्र इसी नगर को मान लिया गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख उर्दू सेवियों में ख्वाजा हसन निजामी, मिर्जा फरहतुल्ला बेग, यजदानी, मीर नासिर नजीर फिराग और राशिदुल खैरी हैं। ये तो बहुत ऊँचे पाये के साहित्यिक हैं। इनके अलावा और दर्जनों लेखक, कवि आदि हैं जो दिल्ली से सम्बद्ध हैं या थे। उपर्युक्त उस्तादों में से सिवाय ख्वाजा हसन निजामी के अब सभी अतीत की विभूतियां हैं। हसन निजामी साहिब ने पूरे ५० वर्ष तक लिखा है। अब भी वे प्रायः लिखते रहते हैं। शायद अब वे नेत्र दोष के कारण आप नहीं लिखते। स्वयं बोलते जाते हैं और कोई और लिखता है।

दिल्ली को जानना हो तो हसन निजामी साहब से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि आप अपने विषय के सम्बन्ध में गम्भीर हैं तो खाली परिचय से काम नहीं चलेगा, ख्वाजा साहब से अच्छी जान-पहचान या हो सके तो मित्रता की आवश्यकता है। भगवान् मेरे पुराने मित्र मौलाना हमजा को चिरायु करें, उनकी कृपा से मुझे ख्वाजा साहब से कई वार मिलने का अवसर मिला। पहली मुलाकात कैसे हुई यह मजे की बात है। विस्तार से सुनाना बुरा नहीं लगेगा।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ मौलाना हमजा मेरे दोस्त हो गये थे। हम प्रायः एक-दूसरे के घर आया-जाया करते थे। एक बार (शायद १६४२ की बात है) शबरात के दिन हमजा मेरे घर कुछ मिठाई लाये। उसी डलिया में एक बिस्कुट का पैकट भी रखा था जिस पर उर्दू में लिखा था 'उर्दू बिस्कुट'। इस पैकट को देखकर मैं कुछ हँसा और हमजा से पूछा कि यह उन्होंने कहाँ से खरीदा। मौलाना बोले—"वाह जनाब, आपने ये लजीज बिस्कुट कभी नोश नहीं फरमाये। यह तो मशहूर उर्दू बिस्कुट फैक्टरी का तोहफा है।"

यह भी खूब रही, मैंने कहा—"कहाँ है यह फैक्टरी।"

मौ० हमजा—"उर्दू बाजार के नुक्कड़ पर वह छोटा-सा पार्क है न, जिसे उर्दू पार्क कहते हैं, ठीक उसके सामने एक बड़ा-सा साइन बोर्ड लगा है जिस पर मोटे हुरूफों में लिखा है 'उर्दू बुक डिपो' उसके पिछवाड़े ही उर्दू बिस्कुट फैक्टरी है।"

अब मुझसे हँसे बगैर न रहा गया। "यह क्या राम कहानी है मौलाना, उर्दू बाजार, उर्दू पार्क, उर्दू बिस्कुट—क्या यह सब कुछ दिल्ली में ही है या कहीं बाहर।"

"वाह हजरत, हम तो समझे थे आप दिल्ली से वाकिफ हैं। तभी आप मेरी बात पर हँसे। जामा मस्जिद के सामने ही तो है उर्दू बाजार। यह सारा करिश्मा ख्वाजा हसन निजामी का किया हुआ है। उर्दू बुक डिपो और उर्दू बिस्कुट फैक्टरी के वही मालिक हैं। मालूम होता है आप उनसे कभी नहीं मिले, नहीं तो यह राज कब का खुल गया होता। बहुत-से दोस्त लोग तो हसन निजामी साहब को भी 'ख्वाजा उर्दू' के नाम से मुखातिब करते हैं।"

यह मजेदार बात सुनकर मैं और भी खिलखिलाकर हँसा। ऐसे धुन के पक्के के तो जरूर दर्शन करने चाहियें, मैंने सोचा। हमजा के साथ उसी रोज शाम को मैं निजामुद्दीन गया और ख्वाजा साहब से मुलाकात की। गये थे एक घंटे के लिए, पर वहाँ डटे रहे चार घंटे के करीब। बातचीत में बड़ा मजा आया। मेरा विश्वास हो गया है दिल्ली में ख्वाजा साहब की टक्कर का बात करने वाला दूसरा आदमी नहीं हो सकता। वे जीता जागता इतिहास हैं, एक कहानी हैं। उन्होंने बहुत पढ़ा है और कोड़ियों किताबें लिखी हैं। उर्दू उनके जीवन का सार है। उन्होंने हमें कई लतीफे और किस्से सुनाये जिन्हें सुनते समय १८५७ के गदर से लेकर १९३६ में लार्ड लिंलिथगो की वाइसराय के पद पर नियुक्ति तक का सारा इतिहास हमारी आँखों के सामने से गुजर गया। जैसी सलीस बामुहावरा उर्दू ख्वाजा साहब लिखते हैं वैसी ही बोलते भी हैं। सुनने वाला दिल-ही-दिल में घबराने लगता है कि कभी ऐसा न हो वे अचानक चुप हो जायें।

दूसरे साहब जिनके बारे में मैं कुछ कहना चाहूँगा मिर्जा फरहतुल्ला बेग हैं। इन्होंने गदर से पहले और बाद की दिल्ली का ऐसा नकशा खींचा है कि पढ़ते समय उस काल के समाज की जीती जागती तस्वीर आँखों के सामने आ जाती है। और उस पर तुर्रा यह कि गदर से पहले के हालात का आधार इनकी व्यक्तिगत छानबीन या बड़े बूढ़े लोगों से बातचीत ही हो सकती है क्योंकि इनका जन्म १८५७ के बाद का है। "दिल्ली की आखिरी शमा" में बेग साहब ने बहादुरशाह के राज्य के अन्तिम मुशायरे का चित्र खींचा है। किताब पढ़ते ही बनती

है। एक नमूना देखिये। शायर लोग मुशायरे में एक-एक करके आ रहे हैं। शमाएँ जल रही हैं। आप लिखते हैं:—

"उस्ताद ज़ौक सबसे मिलकर शामियाने के दाईं तरफ बैठ गये। मुशायरे में शोरा का बिठाना भी एक फन है। नवाब जैनुलाब्दीन की तारीफ करूँगा कि जिसको जहाँ चाहा बिठा दिया। और फिर इस तरह कि किसी को न कोई शिकवा न शिकायत। अगर कोई ऐसी जगह बैठ जाता जहाँ उनके खयाल में उसको न बैठना चाहिये था, तो बजाय इसके कि उसको वहाँ से उठाते, खुद ऐसी जगह जा बैठते और थोड़ी देर बाद कहते, 'अरे भई, जरा एक बात तो सुनना'। वह आकर उनके पास बैठ जाता। उससे बातें करते रहते। इतने में कोई और शख्श आ जाता जिसको वह खाली जगह के लिए मौजूं समझते। उससे कहते—'तशरीफ रखिये, वह जगह खाली है'। जब वह जगह भर जाती तो किसी बहाने उठ जाते और इस तरह दो निशस्तों का इन्तजाम हो जाता........।"

उसी मुशायरे में लेखक ने एक शायर का चित्र यों खींचा है:—

"अब बाईं तरफ की शमा उठाकर अब्दुल्ला खाँ 'ओज' के सामने रख दी गई। ये बड़े पुराने चालीस-पैंतालीस वर्ष के मश्शाक शायर हैं। मजमून की तलाश में हर वक्त सरगर्दां रहते हैं लेकिन ढूँढ-ढाँढकर ऐसे बुलन्द मजामीन और नाजुक खयालात लाते हैं कि एक शेर तो क्या एक किले में भी उनकी समाई मुश्किल है। और कोशिश यह करते हैं कि एक ही शेर में मजमून को खपा दें। नतीजा यह होता है कि मतलब कुछ-का-कुछ हो जाता है। भला दूसरों को तो उनके शेरों में क्या मजा आये, कोई क्या दाद दे। हाँ, ये खुद ही पढ़ते हैं, खुद ही मजे लेते हैं और खुद ही अपनी तारीफ कर लेते हैं। गजल इस जोर-शोर से पढ़ते हैं कि जोश में आकर सफे मजलिस से गजों आगे निकल जाते हैं। इनके शागिर्द तो दो-चार ही हैं; मगर उस्ताद भी इनको उस्ताद मानते हैं। भला किसका बल-बूता है जो इनको उस्ताद न कहकर मुफ्त में लड़ाई मोल ले..."

ख्वाजा हसन निजामी को छोड़कर ये सब साहित्यिक १६४० तक संसार से विदा ले चुके थे। १६४० के बाद जो युग आरम्भ हुआ उसे दिल्ली के लिए प्रगति का युग नहीं कहा जा सकता। राशिदुल

खैरी, मौलवी अब्दुल हक, पं० व्रजमोहन दत्तात्रेय कैफी आदि पुराने लोग बराबर उर्दू की सेवा करते रहे। परन्तु जो लोग वास्तव में पनपे वे रेडियो के आकर्षण से दिल्ली में आये हुए बाहर के साहित्यिक थे। बुखारी रेडियो के कर्ता-धर्ता थे। वे स्वयं उच्च कोटि के लेखक हैं। उन्होंने पंजाब के सभी उर्दू कवि और कहानीकार यहाँ इकट्ठे कर दिये। जो प्रतिभाशाली कवि इस प्रकार दिल्ली आये उनमें राशिद, मीराजी, फैज, डा० तासीर, हरिचन्द अख्तर, हफीज जालंधरी और हसरत के नाम उल्लेखनीय हैं। कहानीकारों में प्रमुख, मण्टो और कृष्णचन्द्र थे। इस प्रकार लड़ाई के दिनों में रेडियो ने दिल्ली में अच्छी-खासी रौनक लगाई हुई थी। यद्यपि इन लोगों ने अधिकतर रेडियो के लिए लिखा, पर फिर भी उससे उर्दू साहित्य की तो वृद्धि हुई ही।

युद्ध के समाप्त होते ही रेडियो ने पल्टा खाया। साथ ही उर्दू का सिंहासन भी हिल उठा। यह सभी जानते थे कि रेडियो पर जो महत्त्व उर्दू को दिया जा रहा था वह अनुचित था और वह नीति चिरस्थायी नहीं रह सकती। हिन्दी की घोर उपेक्षा की प्रतिक्रिया होनी अवश्यंभावी थी। सो, वही हुआ। १६४७ से ही हिन्दी को अधिक स्थान मिलने लगा। देश के विभाजन ने तो वैसे ही उर्दू पर कुठाराघात कर दिया, किन्तु यह निर्विवाद है कि यदि विभाजन न हुआ होता तब भी उर्दू हिन्दी की चुनौती का भार न सह सकती। आखिर भाषा का निर्णय लोगों ही को तो करना था। बहुमत निःसन्देह किसी भी समय हिन्दी के पक्ष में था।

आज जबकि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी घोषित हो चुकी है, उर्दू का भविष्य धूमिल जान पड़ता है। किन्तु उर्दू-प्रेमी आज भी बहुत-से हैं। उर्दू भाषा और साहित्य में अनेक गुण हैं जो उसे जीवित रख सकेंगे। कम-से-कम दिल्ली के लोग तो शायद ही उर्दू को भूल सकें।

इतिहासवेत्ता विधि की विडम्बना पर हँसेगा कि वही दिल्ली जिसने उर्दू को उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म दिया और पाल-पोसकर बड़ा किया, आज उसके प्रति उदासीन है। इसका एकमात्र कारण है कि इन दस सालों में दिल्ली बिल्कुल बदल गई है।

अतीत और वर्तमान—एक तुलना

नई दिल्ली में हनुमान रोड के पीछे एक छोटा-सा मन्दिर है। यह स्थानीय गौडीय मठ का केन्द्र है। यहाँ कुछ बंगाली सन्यासी रहते हैं, जो धर्मोपदेश का कार्य करते हैं। इनमें कुछ सज्जन तो प्रकांड विद्वान् हैं। भारतीय दर्शन का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। सौभाग्य से मेरा इस मठ से कई साल से परिचय है और मेरा वहाँ प्रायः जाना होता है। त्यौहारों के अवसर पर वहाँ अच्छे व्याख्यान और शास्त्र-चर्चा होती है, जिसमें मेरी रुचि है।

गत वर्ष दीपावली के अवसर पर इस मठ में एक समारोह हुआ था। मैं भी वहाँ पहुँचा। कुल मिलाकर ५० के करीब सज्जन वहां उपस्थित थे। सभी अच्छे पढ़े लिखे थे। कीर्तन आदि के बाद श्री चक्रवर्ती का भाषण होना था। भाषण का विषय था "जीवन ध्येय"। श्री चक्रवर्ती किसी स्थानीय कालिज में प्रोफेसर हैं। उन्होंने जो कुछ कहना आरम्भ किया, उससे श्रोता लोग आश्चर्य में पड़ गये। सब लोग वक्ता की ओर घूर-घूर कर देखने लगे। श्री चक्रवर्ती कह रहे थे—

"सज्जनो, वास्तविक जीवन-ध्येय वह है जो दैनिक जीवन में हमें सत्कर्म की ओर प्रेरित करे और जो सदा हमारे सम्मुख रह हमारे कृत्यों को प्रभावित करे। मैं नग्न सत्य कहूँगा, लाग-लपेट की बात करना व्यर्थ है। मेरा निजी ध्येय आजकल एक ही है, वह यह है कि जितनी मेरी आय है, मैं उसी में निर्वाह कर सकूँ और उधार माँगने की किसी तरह नौबत न आये। आजकल दिल्ली के किसी भी गृहस्थी के लिए यह ऊँचे-से-ऊँचा आदर्श है। इसी में सदाचार, सत्य और आध्यात्मवाद निहित है............।"

श्री चक्रवर्ती इस नवीन आध्यात्मवाद की व्याख्या कर ही रहे

थे कि मठाधीश ने बीच में ही टोक दिया : "प्रोफेसर साहब, यह आज कौनसे दर्शन का बखान हो रहा है ? आप तो अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। लोग जो सुनने की आशा लेकर आये हैं, उन्हें वही दीजिए न.........।"

इस प्रकार बीच में टोका जाना चक्रवर्ती जी को बहुत खला। ये कुछ गर्म होकर बोले : "देखिये, सन्यासियों के जीवन-ध्येय के बारे में तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता। विवादग्रस्त प्रश्न तो गृहस्थियों का जीवन-ध्येय है। मैं उसी की चर्चा कर रहा था। मेरा यह निश्चित मत है कि किसी भी धर्मपरायण गृहस्थी का आज, कम-से-कम दिल्ली में, इससे सुन्दर और कोई आदर्श नहीं हो सकता कि वह उतना ही खर्च करे जितना कमाता है। सरकार की बराबर यही इच्छा रही है कि इस देश के जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठे। वाह री किस्मत, भगवान् ने हमारे नेताओं की ऐसी सुनी कि जनसाधारण का जीवन-स्तर खजूर के पेड़ जितना ऊँचा कर दिया। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि रहन-सहन का स्तर ऊँचा होते समय थोड़ा-बहुत कष्ट उठाना ही पड़ता है। अब जनसाधारण स्वयं ऊँचा उठेगा। मेरा कहना है कि यह सब जबरदस्ती है। अगर सब को इस प्रकार बलात् ऊपर उठाया गया, तो बहुतों की रीढ की हड्डी टूट जायगी...............।"

श्री चक्रवर्ती खूब बोले। मैंने इतना सुन्दर भाषण किसी भी मंदिर में कभी नहीं सुना। कितनी सच्ची बात उन्होंने कही ! कैलाश जी मेरे साथ थे, इतने मुग्ध हुए कि श्री चक्रवर्ती से बाद में घंटों बातचीत करते रहे।

सायंकाल सैर करते हुए मैं और कैलाश घर वापस आ गये। हम बराबर यही सोचते रहे कि दिल्ली-निवासियों का जीवन-स्तर कितना ऊँचा उठ गया है। अपने विचारों को उदाहरण के साथ व्यक्त करते हुए कैलाश बोले—"ऐसा जान पड़ता है मानो रहन-सहन के मान और कुतुब मीनार में होड़ हो गई हो कि देखें कौन किससे ऊँचा रहता है।"

हम दोनों हँसते-हँसते पागल हो गये। मैंने कहा—"देखो कैलाश, जब भी तुम आते हो, हमेशा वर्तमान दिल्ली की युद्ध से पहले की दिल्ली से तुलना करने लग जाते हो। तुम्हें अच्छा लतीफा मिला। आज इस विषय पर छिक कर बात कर लो, रोज-रोज का झगड़ा खतम हो।"

सामान। शुद्ध घी-दूध तो अब दिल्ली में एक कहानी बन गये हैं। भला ७) रु० सेर घी और १) रु० सेर दूध कौन ले सकता है? बिगड़े हुए पुराने रईस या छड़े लोग, जिनका आगा न पीछा—वे ही अब खालिस घी-दूध खाने का दावा कर सकते हैं।

खाने की चीजों को छोड़ियो, और सब खर्च भी तो उसी अनु-पात से बढ़ गये हैं। मकानों का किराया (यदि सौभाग्य से मकान मिल जाय,) तांगे का भाड़ा, स्कूलों और कालिजों की फीस (यदि बच्चों को कोई अपने यहां लेने की कृपा करे), कपड़े का दाम आदि-आदि सभी कही-से-कहीं जा पहुँचे हैं। वेतन-भोगी लोगों का तो ऐसा बुरा हाल हुआ है कि सभी शरणार्थी कहलाने को उत्सुक जान पड़ते हैं।

मैं और कैलाश इन विचारों में डूब-से गये। सिगरेट का कश लगाते और धीमे स्वर में कुछ कहते। अचानक मेरी पत्नी ने एक बिल निकाला और बड़े गर्व से उसे पढ़ा। यह अक्तूबर १९४९ का हमारा पानी का बिल था—१३ रुपये आठ आने। यह बात कमाल की रही। अब हमने गिला करना अनावश्यक समझा। अक्तूबर १९३९ में हमने तीन मन खालिस दूध १५ रु० का खरीदा था और उसी महीने १९४९ में हमने १३॥) रु० का पानी खरीदा। कैलाश भी इस पर खूब हँसे और बोले—"तो मियां कौनसी बड़ी बात हुई? पानी भी तो एक बहुमूल्य पदार्थ है। और फिर दूध के बिल से पानी का बिल अब भी डेढ़ रुपया कम ही है!"

बात तो ठीक है, मैंने कहा। अब उलझन आप-ही-आप सुलझ गई।

मेरी पत्नी बिल सुना कर ही चली गई थीं। कैलाश को नमस्ते कह मैं भी अपने कमरे में जा चुपचाप सो गया।

"जमाने की रंगीनियां"

जो लोग बाहर के रहने वाले हैं और पिछले पंद्रह-बीस सालों से ही दिल्ली में आ बसे हैं, वे भी दिल्ली में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों से बहुत प्रभावित हुए हैं। फिर भला उन लोगों का तो कहना ही क्या जो यहाँ सदियों से रह रहे हैं और जिनके पूर्वजों को बलख या बुखारा या तुर्किस्तान से दिल्ली की शोहरत यहां खींच लाई थी। दिल्ली में हजारों ऐसे परिवार थे (इनमें से बहुत-से अब भी यहां हैं) जिनके पूर्वज यहां मुसलमान बादशाहों के निमंत्रण पर आये या स्वयं ही उत्तर-पश्चिमी प्रदेश की बंजर और पथरीली भूमि को छोड़ सम्पन्नता की खोज में दिल्ली आ पहुँचे। एक बार जो दिल्ली आया वह यहीं का हो लिया।

मौलाना हमजा की कृपा से इस प्रकार के कई एक घरों में मेरा आना-जाना रहा है। आज मुझे जब उन मित्रों की याद आती है तो मैं विह्वल हो उठता हूँ। वे सब-के-सब दिल्ली को छोड़ पाकिस्तान जा चुके हैं। मेरे अभिन्न मित्र हमजा भी उन्हीं में शामिल हैं। उनमें से केवल एक ही हस्ती यहाँ रह गई है। वे हैं सैयद फैयाज हुसैन। वे हमजा की टोली के सबसे बूढ़े महाशय हैं। इस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष के लगभग है। यदि विभाजन के दिनों में वे यहाँ होते तो निश्चय ही वे भी अपने मित्रों के साथ पाकिस्तान चले गये होते। उनके इस पुण्यभूमि में रह जाने का एकमात्र कारण यह है कि १९४७ में वे आठ महीने के करीब अपने भतीजे के पास हैदराबाद (दक्षिण) में थे। जुलाई १९४७ में जाकर वे अगले वर्ष मार्च में वहाँ से लौटे। महीनों उनका मन उचाट रहा। प्रायः मुझसे मिलते और दिल की बात कहते। मैंने अपने पास आने से उन्हें रोक दिया था। जब मिलना होता वे कहलवा भेजते थे या पत्र लिख देते थे

और मैं उन्हें उनके घर पर मिल लेता था। अब वे भी मेरे घर आने लगे हैं, क्योंकि महीनों कच्चे-पक्के में भटकने के बाद दिल्ली फिर से लीक पर आ गई है।

पिछले दिनों नवम्बर में फैयाज साहब काफी बीमार रहे। एक महीने तक विस्तर से उठ नहीं पाये। उन दिनों मैं कई बार उनके यहाँ गया। एक दिन तो पांच घंटे से भी अधिक उनके पास बैठा रहा। वे कुछ बात कर रहे थे। अचानक उनका गला रुंध गया और उनकी आँखों से टप-टप आँसू बहने लगे। मैंने आश्चर्य से उनकी तरफ देखा, पर उन्होंने आँसू पोंछने या लज्जावश मुझसे मुँह छिपाने की कोशिश नहीं की। मैंने घबराकर पूछा "भाई जान, क्या बात है? आप रो क्यों रहे हैं? तबियत तो अभी आप कह रहे थे खराब नहीं है।"

तकिये के नीचे से तौलिया निकाल उन्होंने मुँह और आँखें पोंछीं। फिर मेरी ओर देखकर कुछ कहने का प्रयत्न किया। दो-चार शब्द बोलकर फिर रुक गये। मेरे आग्रह पर सैयद फयाज हुसैन ने एक सिगरेट लगाया और धीरे-धीरे बोलना आरम्भ किया—

"माफी चाहता हूँ, मेरी वजह से आपको इस कदर परेशान होना पड़ रहा है। आज पुराने दिनों की याद ताजा हो आई है। मगर क्या अर्ज करूँ, जबान पर ताले लगे हैं, कुछ कहने की ख्वाहिश होती है, पर एकदम कुछ और खयाल आ जाता है जो अपनी ही तरफ खींचता है। आज मेरा दिल मैदाने-जंग से कम नहीं। न जाने क्यों तरह-तरह के खयालात उभरते हैं और फिर आपस में ही टकरा जाते हैं। कभी हँसने को जी चाहता है और कभी आप-ही-आप आँखें तर हो आती हैं। इस कशमकश ने कल से मुझे हैरान कर रखा है...।"

मैंने भाई जान की बात काटते हुए आग्रह किया कि उन्हें सब कुछ स्पष्ट कहने में संकोच नहीं होना चाहिये। "क्या आप मुझे अपना सच्चा दोस्त नहीं मानते? क्या मैं सभी हालात से वाकिफ नहीं हूँ? फिर क्यों आप अपने दिल का बोझ अपने तक ही रखते हैं? साफ-साफ कहिये, शायद मैं आपका बोझ बटा सकूँ।"

फैयाज हुसैन साहब की आँखें फिर भर आईं और रुंधे हुए गले से उन्होंने बोलना शुरू किया—

"आपकी मुहब्बत और नेकनीयती पर मैं जीते जी शक करना हराम समझूँगा। सच पूछिये तो आपकी बिरादराना हमदर्दी ही मेरे

लिए एक मसला बनी हुई है। इस वक्त मेरे खयालात की रवानगी में यही सबसे बड़ी रुकावट है। मुझे हफ्तों से हमजा और दूसरे दोस्त याद आ रहे हैं। कभी सोचता हूँ कितना अच्छा होता अगर मैं भी पाकिस्तान चला गया होता। यह सोचते ही झटका-सा लगता है और दिल को ठेस पहुँचती है। मैं सोचने लगता हूँ क्या वाकई अब दिल्ली मुसलमानों के लिए विदेश हो चली है। क्या ईमानदार मुसलमान भी अब जामा मस्जिद और लाल किले के बारे में सिर्फ किताबों में ही पढ़ा करेंगे और आँखों से नहीं देख सकेंगे ? क्या हिन्द की सरजमीन अब इस्लाम के पौधे को नशो-नुमा नहीं दे सकेगी ? क्या वाकई अंग्रेजों और मुसलमानों में कोई फर्क नहीं और क्या मुसलमान भी अंग्रेजों की तरह हिन्दुस्तान से कूच कर सकते हैं ? क्या हम लोग यहाँ सिर्फ हुकमरां की हैसियत से ही रहे ? क्या इस सरजमीन से मुसलमानों का कोई लगाव नहीं......।"

भाई जान ये शब्द बोलते-बोलते मूर्छित-से होकर धम से तकिये पर गिर पड़े। एकदम कुर्सी से उठकर मैंने उनके सिर को संभाला। वे बच्चों की तरह रो रहे थे। मैंने कहा आप अब खामोश ही रहें। आपके लिए बोलना ठीक नहीं। आप बहुत भावुक हो गये थे और उद्वेग के प्रवाह में बह चले थे। आपका शरीर इतना दबाव नहीं सह सकता........।

मैं तो समझा था कि मेरे कहने का भाईजान पर असर हुआ है, इसीलिए वे अब चुप हैं। किन्तु मैं अन्तिम वाक्य समाप्त करने ही जा रहा था कि वे एकदम उठ बैठे और आवेश में आकर फिर बोलने लगे—

"मैं कैसे खामोश रह सकता हूँ ? एक तरफ तो मुझे पुराने दोस्त याद आते हैं जिनके बिना दिल्ली अब वीरान-सी दिखाई देती है, और दूसरी तरफ मुझे उन चार सदियों का खयाल आता है जो मेरे बुजुर्गों ने इस मुल्क में गुजारी हैं। शायद आपको पता नहीं कि मैं बाराह के सैयदों के खानदान से ताल्लुक रखता हूँ। इसी दिल्ली में अठारहवीं सदी में मेरे बाप-दादा बरसों बादशाह के वजीर रहे। हम लोगों ने तब से ही दिल्ली को अपना वतन माना है। दिल्ली पर कोई एहसान नहीं, कहीं और हमारा घरबार भी तो नहीं है। जब मुझे बचपन का एक किस्सा याद आता है तो मेरी रूह कांप उठती है। मैं

१२ साल का था जब एक बार मेरे वालिद सख्त बीमार हो गये। मेरे चचा हैदराबाद की फौज में बहुत बड़े अफसर थे। उन्होंने वालिद को वहाँ बुलाया पर वाल्दा के समझाने पर भी वे नहीं गये और चचा को लिखवा भेजा, 'घबराने की चंदां जरूरत नहीं, उम्मीद है ठीक हो जाऊँगा। अगर खुदा को कुछ और मंजूर है तो वही सही। अगर मरना ही है तो इस जहान में दिल्ली से बढ़ कर कौनसी जगह अच्छी हो सकती है'। आखिर वालिद का इन्तकाल दिल्ली ही में हुआ।"

यह किस्सा सुनाते-सुनाते फैयाज हुसैन की आँखें फिर तर हो गईं। मैं उनके मानसिक द्वंद्व की झलक उनके चेहरे पर साफ देख रहा था। राजनीति से उन्हें कभी विशेष लगाव नहीं रहा, किन्तु फिर भी वे १९४५-४६ में पाकिस्तान के समर्थक थे। मुस्लिम लीग के वे कभी सदस्य नहीं रहे, परन्तु यह उनका विश्वास था कि वह संस्था ही मुसलमानों का सच्चा नेतृत्व कर सकती है। उन्हीं पुरानी बातों को वे अब अपने दिल में उथल रहे थे। बरबस उन्होंने अपनी विचार-धारा में कुछ परिवर्तन पाया, जो इतना स्पष्ट नहीं था कि विचारक को विरोधाभास की पीड़ा से अछूता रख सके, और न ही इतना निर्बल कि उसे उपेक्षा के आवरण में ढांपा जा सके।

कुछ मिनट खामोश रह कर भाई जान ने फिर बोलना शुरू किया—

"पाकिस्तान का जहूर में आना अच्छा है या बुरा, इस पर बहस करना अपने ही बाल आप नोचने के बराबर है। जो होना था वह हो चुका। कम-से-कम हिन्दुस्तान के मुसलमानों को अब पाकिस्तान के बारे में ज्यादा सोचने की जरूरत नहीं। हमारे अपने ही मसले कुछ कम अहम नहीं। जब मैं यहाँ के मुसलमानों की मौजूदा हालत का खयाल करता हूँ तो मुझे एकदम गदर के बाद के दिनों की याद आती है। मैंने गदर नहीं देखा। मेरी तो पैदाइश १८६६ की है। पर उन दिनों के हालात से मैं खूब वाकिफ हूँ। मुसलमानों की हकूमत ही नहीं सब उम्मीदों का भी खातमा हो चुका था। हर तरफ अंधेरा-ही-अंधेरा था। अंग्रेज हाकिम की आँखों में हम सब बागी थे और इसलिए सजा के मूजिब। यह पालिसी गदर के तीस-चालीस साल बाद तक चलती रही। मुसलमान गिन-गिनकर दिन काट रहे थे। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था। काफी जुल्मोसितम सह चुकने के बाद उम्मीद की किरन

दिखाई दी। मेरे बुजुर्ग दोस्त सर सैयद अहमद ने हमें रास्ता दिखाया। उनकी बताई हुई राह पर चलकर कुछ बरसों में ही मुसलमान संभल गये। उन्होंने नये हालात को समझना शुरू किया और बहुतों ने अपने आपको उनके मुताबिक भी कर लिया। अंधेरा धीरे-धीरे छंटने लगा। अपना फर्ज मुसलमान समझने लगे और १६०८ के करीब हिन्दुस्तान के दूसरे लोगों की तरह ही मुसलमान भी इस मुल्क में रहने-सहने लगे।"

यहाँ फैयाज साहब कुछ रुके। मैं समझ रहा था कि उन्नीसवीं सदी से अब वे बीसवीं सदी के हालात पर आना चाहते हैं। इसीलिए एकदम रुक गये। किसी भी विचारक या आलोचक के लिए वर्तमान की समालोचना अतीत की आलोचना की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन, अधिक जटिल होती है। अतीत इतिहास मात्र है और वर्तमान जीवित परिस्थितियाँ। अतीत पुरानी और प्रायः विस्मृत घटनाओं के पुंज से बढ़कर और कुछ नहीं, परन्तु वर्तमान की घटनाओं में जीवन की सिहरन है, प्रत्यक्ष वातावरण के लक्षण हैं और आत्मीयता के गुण हैं। यदि अतीत किसी दूरस्थ मित्र को पत्र लिखने के समान है, तो वर्तमान उस मित्र से प्रत्यक्ष बातचीत करने के बराबर। इसलिए कोई भी समझदार व्यक्ति वर्तमान के सम्बन्ध में बात करने से पहले अपने विचारों को तोलेगा और यथासंभव निष्पक्ष भाव से विचार करने का प्रयत्न करेगा।

मैंने समझा इसीलिए भाई जान चुप हो गये। वे भी अपने विचारों को तोल रहे होंगे। किन्तु मेरी उत्सुकता इतनी बढ़ गई थी कि मैं वर्तमान की ओर उनका ध्यान आकर्षित किये बिना न रह सका। मैंने कहा—"गदर के बाद के समय से आज की स्थिति की तुलना करना मुझे भी बहुत ठीक जंचता है। उन दिनों जो संकट मुसलमानों पर आया था वह सचमुच भयंकर था। हो सकता है उर्दू लेखकों के मतानुसार वह प्रलयंकारी भी हो। आज जो स्थिति है उसके बारे में मतभेद हो सकता है, किन्तु यह सभी मानेंगे कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों के सामने जो हालात देश के बटवारे ने पैदा कर दिये हैं वे भी बहुत पेचीदा हैं। गदर के बाद के हाकिमों और आज के हाकिमों में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। सच पूछिये तो इस देश में आज हाकिम हैं ही नहीं, लोग खुद ही सब-कुछ हैं और आप जानते ही हैं

लोगों में करोड़ों मुसलमान भी शामिल हैं। फिर भी मैं इस बात से इन्कार नहीं करूंगा कि आधुनिक परिस्थितियाँ बहुत से मुसलमानों के लिए संकट-सूचक हो सकती हैं......"

भाईजान जो शायद अब अपनी उलझनों पर काबू पा चुके थे, मेरी बात काटते हुए बोले—

"आप भी नजूमी जान पड़ते हैं, खूब मेरे मन की बात कही। मैं सचमुच आज के हालात के बारे में ही सोच रहा था। यह तो आप मानियेगा ही कि पाकिस्तान बनते ही हिन्द के मुसलमान खौफ खा गये। मैं किसी को कसूरवार नहीं ठहराता। न ही इस बात से मुंह मोड़ूंगा कि हमारे सच्चे खैरख्वाह भी इस मुल्क में हैं। अगर मुसलमानों पर मुसीबतें आईं तो यह भी ठीक है कि ज़ान और ताकत को खतरे में डालकर यहाँ के रहनुमाओं ने ही उनकी हिफाजत की। कौन नहीं जानता कि मुसलमानों के लिए ही गांधीजी ने जान दी। उनकी इन्तहाई कुर्बानी से मुसलमान बहुत मुतास्सिर हुए हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के लीडर हिन्दू-मुसलमान में कोई तमीज नहीं करते और सबको बराबर हकूक देना चाहते हैं। मुझे कल ही जाहिद साहब ने बतलाया कि यह बराबरी की बात अब हिन्दुस्तान के नये आईने में भी शामिल कर दी गई है। इसलिए यह सही है कि लीडरान जो कहते रहे हैं उसमें से बहुत-कुछ उन्होंने अमली तौर पर कर भी डाला है। मगर ......मगर क्या इजाजत है कि तस्वीर के एक और पहलू पर भी कुछ अर्ज करूं ?"

"जरूर", मैंने कहा, "बोलिये न, संकोच किस बात का है। अगर दो दोस्त भी इस मामले पर साफ-साफ बात नहीं कर सकते तो वह तो और भी बुरा होगा। मैं बेशक हिन्दू हूँ, मगर हिन्दुस्तानी भी..........।"

भाई जान चुप न रह सके—"अरे, भई, तुम कहाँ-से-कहाँ पहुँच गये। कसम है, मेरा यह मतलब नहीं था। मैं तो वैसे ही बोलता-बोलता अटक गया था। लो अब सुन लो। सच्ची बात कहने में झिझक कैसी। बात यह है कि हकूमत की पूरी कोशिशों के बावजूद भी कुछ मुश्किलात मुसलमानों को दरपेश आई हैं और आ रही हैं। वजह कुछ भी हो मुश्किल को तो मुश्किल ही कहा जायगा। आपको शायद मालूम ही है कि हिन्दुस्तान का कोई ही ऐसा बड़ा मुस्लिम

घराना होगा जिसमें से दो-चार आदमी पाकिस्तान न गये हों। दिल्ली का तो जिक्र ही न कीजिये। यहाँ तो एक भी ऐसा घर नहीं जिसमें से आधे आदमी वहाँ न चले गए हों। नौकरी-पेशा लोग तो सभी चले गये। इसलिए जब कभी भी हम लोग पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में तनातनी की खबर सुनते हैं तो सबका कलेजा मुँह को आता है। हम तो यहाँ हैं और बहुत-से अजीज पाकिस्तान में। हमें यह सोचने की फुर्सत ही नहीं कि किसने क्या कहा या किया—पाकिस्तान ने ज्यादती की या हिंन्दुस्तान ने। ईमानदार आदमी यह भी मानेगा कि हमारी सरकार ने पाकिस्तान से सच्ची दोस्ती निभाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। पर भई, पाकिस्तान की गलती भी तो हमें परेशान कर डालती है। खुदा जाने तह में क्या बात है, अब मनिआर्डर आने-जाने बन्द हो गये हैं। भला कल को अगर चिट्ठी-पत्री भी आनी बन्द हो जाय तो हमारा क्या हाल होगा। मेरे ही सात अजीज पाकिस्तान में हैं। उनकी खबर-सार दो हफ्ते न आये तो बेचैन हो उठता हूँ।"

जिस धैर्य और निष्पक्षता से भाईजान ने मुसलमानों की मुश्किलें बयान कीं वह सचमुच असाधारण थी। उनकी बात बिल्कुल सच्ची है। फिर भी मैंने सोचा उन्हें इस सम्बन्ध में कुछ और बताऊं। सो मैंने प्यालों में चाय डालते हुए कहा—

"आपकी बात मैं बिल्कुल समझ गया। मैं सफाई पेश नहीं करूंगा। इस बारे में मेरे जो विचार हैं वे आपके आगे रखना चाहूँगा। इस बटवारे से जो दोनों तरफ तबाही हुई है उससे इन्कार कौन कर सकता है। लेकिन बटवारे की मांग पर तो मुस्लिम लोग ही अड़ी थी। आजादी की खातिर हमारे नेताओं ने वह शर्त भी मान ली। अब आप ही बतलाएँ पाकिस्तान बन जाने पर उन लोगों को आपके आराम और तकलीफ की क्या कोई चिन्ता ही नहीं होनी चाहिये। यहाँ के मुसलमानों में कौन पाकिस्तान का समर्थक था और कौन विरोधी, यह सवाल तो अब कोई पूछता ही नहीं। पिछली भूल-चूक बट्टे खाते में गई। उसका हिसाब अब कोई नहीं मांगता। आप लोगों को निश्चय ही कुछ तकलीफें हैं, परन्तु मेरा खयाल है उनकी तह तक पहुँचने पर आप देखेंगे कि उनकी जिम्मेदारी हमारी सरकार पर नहीं आती। सरकार तो बेचारी पाकिस्तान को रियायत-पर-रियायत देने के लिए चारों तरफ बदनाम हो गई है। खैर, असल में सवाल यह है कि

सरकार का मुसलमानों की तरफ क्या रुख है। इसका जो जवाब होगा उसी से तो हिन्दुस्तान में मुसलमानों के भविष्य पर प्रकाश पड़ेगा........"

भाई जान के चेहरे पर कुछ रौनक दिखाई दी और लिहाफ को अच्छी तरह लपेटते हुए बोले—

"वाह, वाह, क्या खूब, आपने फिर मेरे दिल की बात लफ्जों में अदा की है। आप लोग चाहे कुछ ही समझें, हमारा जो आज पाकिस्तान के बारे में खयाल है वह हमारा दिल ही जानता है पर खैर, जो हुआ सो हुआ। सरकार के इरादों की बात आपने खूब कही। अगर कहीं हिन्द सरकार इस कदर गैर-फिरकेवाराना न होती और मुसलमानों को उसके इरादों पर पूरा यकीन न होता, तो वाकई सभी मुसलमान या तो पाकिस्तान चले जाते या पिंजरे में बन्द तोते की तरह किसी-न-किसी तरह दिन गुजारते। अब सारी बात पर गौर करने से मुझे यकीन हो गया है कि जल्द ही हिन्दुस्तान का मुसलमान अपना सर ऊँचा करेगा और हिन्द के लिए सब-कुछ कुर्बान करने को तैयार होगा। सर सैयद अहमद ही के सबक से हम आज भी फायदा उठा सकते हैं। उन दिनों उनके बताये हुए पर अमल करना बहुत-कुछ मुश्किल था, पर आज आसान ही नहीं बिल्कुल कुदरती भी जान पड़ता है। सर सैयद ने हमें जमाने के साथ बदलने की नसीहत की थी। उन दिनों हमें अंग्रेजों की रीस करनी थी, उन्हें खुश करना था और अंग्रेजी तहजीब को अपनाना था। और अंग्रेज थे हमारे हाकिम और हम उनके गुलाम। भला उन बातों का आज के हालात से क्या मुकाबला। अब हमें हिन्दुस्तान ही की एक जबान सीखनी है। जब अंग्रेजी तक को हम अपनाते रहे तो हिन्दी ही हमारे गले में क्यों अटकने लगी? यह तो हमारे और भी नजदीक है। दसियों मुसलमानों ने इसकी जड़ें अपने खून से सींची हैं। और अब हाकिम-गुलाम का सवाल ही नहीं उठता। सभी एक जैसे हैं। मुकम्मिल जमहूरियत में जो हक औरों को हासिल हैं वही मुसलमानों के भी हैं। अंग्रेज जो गैरमुल्की थे और सदा हम पर हकूमत करते रहे उनसे तो मिलकर हम काम करने को तैयार हो गये, क्या अब हिन्दुओं से ही मुंह मोड़ेंगे—उन हिन्दुओं से जिनके साथ हम सदियों से भाइयों की तरह रहते आये हैं और जिनके साथ हमने इसी मुल्क में जमाने

के नशेबोफराज देखे हैं। मियां हेमन्त, जमाना हमेशा बदलता रहता है। इन्सान वह है जो जमाने की रंगीनियों से चकाचौंध होकर लड़-खड़ाने की बजाय उन रंगीनियों से हो सके तो लुत्फ उठाये वरना कम-से-कम खुद को उनके मुवाफिक तो कर ही ले। सिर्फ वक्त का सवाल है। अभी मुसलमानों ने इस मामले को पूरी तरह नहीं समझा। मैं आप इसे आज ही समझ पाया हूँ। वह दिन बहुत दूर नहीं जब सभी इसे खूब समझ लेंगे।"

मुझे सैयद फैयाज हुसैन की बातों में बहुत मजा आया। मैं जानता था वे दिल की बात कर रहे हैं, क्योंकि कृत्रिमता उनके स्वभाव में नहीं है। मैं उनके साथ सहमत हूँ कि वह दिन दूर नहीं जब सभी मुसलमान फैयाज साहब की तरह असलियत को समझ जायँगे और अस्थायी कष्टों के बावजूद भी दिल्ली को दिल से दूर नहीं करेंगे।

अब रात के नौ बज चुके थे। मैंने भाई जान से इजाजत मांगी और बाईसिकल पर चढ़ सीधा घर जा पहुँचा।